Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भावविवाद

डॉ. पी.सी. चौरसिया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाववाद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाववाद

डॉ. प्रकाशचंद्र चौरसिया

एम.ए., पी-एच.डी., नेट (NET)
दर्शन विभाग, शासकीय महाराजा महाविद्यालय
छतरपुर (म.प्र.)

लता साहित्य सदन

गाजियाबाद-201102

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

I.S.B.N.: 978-93-80462-1-1

© डॉ. प्रकाशचन्द्र चौरसिया

₹ : 495.00

प्रथम संस्करण : 2015

प्रकाशक :

लता साहित्य सदन

E-10/666, उत्तरांचल कॉलोनी (निकट संगम सिनेमा),
लोनी बॉर्डर, गाजियाबाद-201102
मोबाइल : 09968047183, 9717507223
Email : fatehchand058@gmail.com

शब्द संयोजक : विशाल कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, दिल्ली-91

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

Bhartiya Darshan mein Pramanantbharvaad
by Dr. Prakash Chandra Chaurasia

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानव मात्र के कल्याण हेतु
दर्शन साहित्य की गवेषणा एवं
तपस्या में निरन्तर निरत असाधरण
पांडित्य के धनी, किन्तु सरल हृदयी
महामना, प्रातः स्मरणीय वन्दनीय
'गुरुदेव' प्रोफेसर अम्बिकादत्त शर्मा जी
(विभागाध्यक्ष दर्शन विभाग,
केन्द्रीय वि.वि. सागर, म.प्र.)
के चरण कमलों में
यह पुस्तक रूपी फल
सादर समर्पित
—डॉ. प्रकाशचंद्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक का उद्‌देश्य भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रमाणों के अन्तर्भाव की समस्या का अध्ययन करना है। दृष्टव्य है कि प्रमाणान्तर्भाव की समस्या भारतीय प्रमाणशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है, जो कि प्रमाणों की न्यूनतम संख्या के निर्धारण से संबंधित है। भारतीय दर्शन में चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है। वैशेषिक दर्शन और बौद्ध दर्शन अपने–अपने तरीके से प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक दो ही प्रमाण मानते हैं। जैन दर्शन भी सभी प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष कोटि में ही समाहित कर देता है। सांख्य–दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त–वचन नामक तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। न्याय दर्शन प्रमाण चतुष्टयवादी है–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। पूर्व–मीमांसा एवं उत्तर–मीमांसा में नैयायिकों के प्रमाण चतुष्टय के अतिरिक्त अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि नामक दो स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। ऐसे ही आयुर्वेद और पौराणिक–दर्शन में संभव और ऐतिह्य नामक दो अप्रचलित प्रमाणों के संदर्भ भी प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त आठ प्रमाणों के साथ चेष्टा और परिशेष को जोड़कर तान्त्रिक प्रमाणों की संख्या दस कर देते हैं। पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नाकर में तथा न्यायसिद्धिकार ने प्रकरणपंचिका की व्याख्या में उपरोक्त आठ प्रमाणों के अतिरिक्त नवें को लोक प्रमाण या लोकप्रसिद्धि तथा दसवें को आर्ष या प्रातिभ–ज्ञान बताया है। इतना ही नहीं, परवर्ती जैन दार्शनिकों ने जिनमें अकलंक और वादिदेव सूरि आदि प्रमुख हैं, ने इस बात को बड़े ही आग्रहपूर्वक प्रतिस्थापित किया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के साथ स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को भी जोड़ दिया जाए। इस प्रकार कुल मिलाकर पन्द्रह प्रमाणों की चर्चा भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने की है। प्रमाणों की संख्या को लेकर भारतीय दर्शनों का यह आपसी विवाद जितना ही गहरा है उतना ही असमझौतापूर्ण भी रहा है।

अवधेय है कि भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के मध्य पाया जाने वाला प्रमाणों की संख्या संबंधी यह मतभेद केवल संख्या निर्धारण तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका विस्तार उन–उन प्रमाणों के स्वरूप, लक्षण, विषय, विनियोग एवं प्रमाण–फल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तक देखा जा सकता है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के सारे मतभेद प्रमाणों की संख्या, लक्षण, विषय और फल के चारों तरफ ही घूमते हैं और प्रमाण–संख्या का मतभेद इन सभी में आधारभूत है। कोई भी दर्शन अपने प्रमाण मीमांसीय चिन्तन में जितने और जिन–जिन प्रमाणों को स्वीकार करता है उसके द्वारा वह मानवीय ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र को सम्मिलित और व्याख्यायित करने का दावा भी करता है। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रमाण को ज्ञान के एक स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किए जाने के पीछे तर्क यह होता है कि उस प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु का और वस्तु स्थिति का जिस रूप में ज्ञान होता है–वह किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा उस रूप में नहीं जाना जा सकता। ऐसी स्थिति में भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रमाणान्तर्भाव की समस्या आवश्यक रूप से उपस्थापित होती है।

प्रमाणान्तर्भाव भारतीय प्रमाणमीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। लेकिन भारतीय दर्शन के आधुनिक अध्ययन में यह किन्हीं कारणों से उपेक्षित सा रहा है। हमने प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण को सन्दर्भ बनाकर अब तक उपेक्षित रहे भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के आन्तरिक विकास और इससे सम्बन्धित वैकल्पिक–दृष्टिकोणों एवं व्याख्याओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत पुस्तक में हमने किसी एक दार्शनिक सम्प्रदाय की प्रमाण योजना के अंतर्गत प्रमाणान्तर्भाव पर विचार नहीं किया है, बल्कि एक–एक प्रमाण को संदर्भ बनाकर अपने अध्ययन को इस तरह अग्रसारित किया है ताकि यह स्पष्ट हो सके कि कोई दर्शन किन आधारों पर किसी प्रमाण विशेष के स्वतंत्र–प्रामाण्य का प्रतिपादन करता है और दूसरा किन आधारों पर उसका अन्तर्भाव किसी दूसरे प्रमाण में दिखाता है। मुझे आशा एवं विश्वास है कि इस पुस्तक के अध्ययन से छात्रों एवं पाठकों को भारतीय ज्ञानमीमांसा को भली–भांति समझने एवं जानने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

–प्रकाश चन्द्र चौरसिया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आभार

प्रस्तुत पुस्तक की सम्पूर्ति के इस सुखद अवसर पर सर्वप्रथम मैं अपने माता–पिता के श्री चरणों को नमन करता हूं, जिनके स्नेह एवं आशीर्वाद ने हमेशा मेरा उत्साहवर्धन किया। मैं अपने परम श्रद्धेयास्पद आचार्य प्रवर, महिम्न 'गुरुदेव' प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा जी (विभागध्यक्ष–दर्शन विभाग, केंद्रीय वि.वि. सागर एवं महासचिव अखिल भारतीय दर्शन परिषद्) जिनका शिष्य होकर मैं हमेशा गौरवान्वित महसूस करता हूं, उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं। उन्होंने अपनी उत्प्रेरक बौद्धिकता और तलस्पर्शी ज्ञान को मेरे इस पुस्तकीय कार्य में प्रयुक्त कर, अत्यंत दुरूह लग रहे विषय–बिंदुओं पर अपने अनमोल एवं व्यस्ततम समय में भी मुझसे दूरभाष पर घंटों चर्चा करके तथा पर्याप्त विषय सामग्री प्रदान करके विषय–बिंदुओं को पर्याप्त गहराई से प्रतिपादित करने में पग–पग पर मेरा मार्गदर्शन किया। वस्तुतः यह पुस्तक आपके ही आत्मीयतापूर्ण, सहज तथा सरल निर्देशन एवं प्रेरणा का सुखद फल है। मैं अपने परम श्रद्धेय गुरुवर प्रो. जयप्रकाश शाक्य (विभागाध्यक्ष–दर्शन विभाग, शासकीय महाराजा महाविद्यालय, छतरपुर, म.प्र.) के प्रति भी इस सुखद अवसर पर हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। आपने विभागीय कार्य के दौरान हमेशा इस कार्य हेतु मेरा उत्साहवर्द्धन किया है। सम्माननीय प्रोफेसर सी.एल. प्रजापति जी (अर्थशास्त्र विभाग) के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता एवं आभार व्यक्त करता हूं। आपके सहयोग एवं संरक्षण के बगैर यह कार्य कर पाना मेरे लिए असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य था।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग करने के लिए मैं सम्माननीय प्रो. के.एल. पटेल, प्रो. एम.एस. विमल, प्रो. आर.पी. अहरवाल, प्रो. एस.सी. छारी तथा अग्रज प्रोफेसर राजेश चौरसिया (शास. वसंत महिला महाविद्या. राजघाट, वाराणसी) एवं मित्र डॉ. अनिल सिंह, डॉ. सुभाष शाक्य, डॉ. महेश निगम, डॉ. महेश गुरु, प्रोफेसर राजबहादुर अनुरागी (भूगोल विभाग, केंद्रीय वि.वि., सागर म.प्र.) तथा बहिन डॉ. नेहा शाक्य के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं। आप सभी ने इस कार्य हेतु मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया। पुस्तक को लिखने में जिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विद्वानों की कृतियों से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से मैंने सहायता प्राप्त की है, उन सभी के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता एवं आभार व्यक्त करता हूं। इस पुस्तक को अत्यंत अल्प समय में ही अत्यंत सुंदर एवं आकर्षित कलेवर में प्रस्तुत करने के लिए मैं प्रकाशक (लता साहित्य सदन) एवं खास तौर पर फतेहचंद्र जी के प्रति विशेष आभार व्यक्त करता हूं। प्रस्तुत पुस्तक में रह गई कमियों एवं त्रुटियों को दूर करने हेतु पाठकों के सुझावों का हमेशा स्वागत है।

—डॉ. प्रकाशचन्द्र चौरसिया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रम

UNIT - I

प्रमा का स्वरूप 15

1. चार्वाक दर्शन में प्रमा का स्वरूप
2. बौद्ध दर्शन में प्रमा का स्परूप
3. जैन दर्शन में प्रमा का स्वरूप
4. न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रमा का स्वरूप
5. सांख्य-योग दर्शन में प्रमा का स्वरूप
6. मीमांसा दर्शन में प्रमा का स्वरूप
7. वेदांत दर्शन में प्रमा का स्वरूप

UNIT - II

प्रमाण के भेद 34

1. प्रमाण का स्वरूप
2. प्रमाणों के प्रकार
   - (i) प्रत्यक्ष प्रमाण
   - (ii) अनुगान प्रमाण
   - (iii) शब्द प्रमाण
   - (iv) उपमान प्रमाण
   - (v) अर्थापत्ति प्रमाण
   - (vi) अनुपलब्धि प्रमाण
   - (vii) ऐतिह्य प्रमाण
   - (viii) परिशेष प्रमाण
   - (ix) चेष्टा प्रमाण
   - (x) आर्ष प्रमाण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(xi) प्रत्यभिज्ञा प्रमाण
(xii) तर्क प्रमाण
(xiii) लोक प्रसिद्धि प्रमाण
(xiv) स्मृति प्रमाण
(xv) संभव प्रमाण
3. प्रमाणों में अंतर

UNIT - III

प्रमाणान्तर्भाव की रूपरेखा 69

1. प्रमाणान्तर्भाव का सूत्रपात
2. प्रमाणान्तर्भाव का बीजारोपण
3. प्रमाणान्तर्भाव का प्रभाव

UNIT - IV

शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव 79

1. न्यायमत में शब्दप्रमाण
2. जैन दर्शन में शब्द प्रमाण
3. सांख्य दर्शन में शब्द प्रमाण
4. योग दर्शन में शब्द प्रमाण
5. वेदांत दर्शन में शब्द प्रमाण
6. मीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण
8. चार्वाक दर्शन में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव
9. वैशेषिक दर्शन में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव
9. बौद्ध दर्शन में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव

UNIT - V

उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव 96

1. वेदांत दर्शन में उपमान
2. मीमांसा दर्शन में उपमान
3. न्याय दर्शन में उपमान
4. उपमान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव
5. उपमान का प्रत्यक्ष और स्मृति में अन्तर्भाव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

6. उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव
7. उपमान का सादृश्यानुमान में अन्तर्भाव
8. उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव

UNIT - VI

अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव 108

1. मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति
2. वेदान्त दर्शन में अर्थापत्ति
3. अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव
4. अर्थापत्ति का शब्द में अन्तर्भाव

UNIT - VII

अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव 118

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन में अनुपलब्धि
2. बौद्ध दर्शन में अनुपलब्धि
3. मीमांसा दर्शन में अनुपलब्धि
4. वेदांत दर्शन में अनुपलब्धि
5. अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव
6. अनुपलब्धि का अनुमान में अन्तर्भाव

UNIT - VIII

अप्रचलित प्रमाणों का अन्तर्भाव 134

1. ऐतिह्य प्रमाण का अन्तर्भाव
2. संभव प्रमाण का अंतर्भाव
3. चेष्टा प्रमाण का अन्तर्भाव
4. परिशेष प्रमाण का अन्तर्भाव
5. आर्ष (प्रातिभज्ञान) प्रमाण का अन्तर्भाव
6. प्रत्यभिज्ञा प्रमाण का अन्तर्भाव
7. लोक प्रसिद्धि प्रमाण का अन्तर्भाव
8. तर्क प्रमाण का अन्तर्भाव
9. स्मृति प्रमाण का अंतर्भाव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - IX

प्रमाणान्तर्भाव के प्रेरक

142

1. लक्षणमूलक ज्ञानमीमांसा और प्रमाणान्तर्भाव
2. प्रमाण मूलक ज्ञानमीमांसा और प्रमाणान्तर्भाव
3. प्रमेय मूलक ज्ञानमीमांसा और प्रमाणान्तर्भाव
4. प्रमाण व्यवस्था और प्रमाणान्तर्भाव
5. प्रमाण संप्लव और प्रमाणान्तर्भाव
6. प्रमाणान्तर्भाववाद एक तत्वमीमांसीय निष्पत्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - I

प्रमा का स्वरूप

भारतीय दर्शन के समस्त दार्शनिक और दार्शनिक संप्रदाय सत्य और असत्य ज्ञान के निर्धारण के संबंध में एक स्वर हो यह कहते हुए प्रतीत होते हैं कि सत्य ज्ञान प्रमा तथा असत्य ज्ञान अप्रमा है। भारतीय चिंतन में सत्य (यथार्थ) और असत्य (अयथार्थ) ज्ञान को स्पष्टतः समझने व जानने के लिए क्रमशः प्रमा और अप्रमा शब्द देना उपयुक्त समझा गया है। परिणामतः सत्य ज्ञान को प्रमा तथा असत्य ज्ञान को अप्रमा कहा गया। भारतीय दार्शनिकों का मानना है कि ज्ञान सम्पूर्ण व्यवहार का असाधारण कारण है। प्रत्येक वस्तु ज्ञान के द्वारा ही जानी जा सकती है। वस्तु के ज्ञान के पश्चात्, उससे स्वार्थ की सिद्धि की आशा होने पर उसे पाने की एवं स्वार्थ–विघात की आशंका होने पर उसे हटाने की तथा स्वार्थ सिद्धि एवं स्वार्थ–विघात दोनों की असंभावना में औदासीन्य की प्रवृत्ति देखी जाती है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि किसी वस्तु को इष्ट का साधन समझकर, उसे प्राप्त करने की चेष्टा के अनन्तर, वह वस्तु किसी अन्य प्रकार की दिखाई देती है, जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीति। अतः जो वस्तु जिस रूप में ज्ञात होती है, उसकी उसी रूप में व्यवस्थिति भी होने एवं न होने के आधार पर ज्ञान का भेद होना आवश्यक है। चिंतकों ने संपूर्ण व्यवहार को ज्ञान के द्वारा सम्पन्न होने पर ही संवादी एवं विसंवादी रूप में उसके द्विधा विभक्त–स्वरूप के आधार पर उसके प्रमा एवं अप्रमा दो भेद किये हैं। जिस ज्ञान के विषय का प्रवृत्ति के साथ संवाद देखा उसे प्रमात्मक तथा जिस ज्ञान के साथ प्रवृत्ति का विसंवाद देखा उसे अप्रमात्मक या भ्रम कहा।[1]

प्रमा के निर्धारक तत्वों और प्रमा के स्वरूप की बात जब उठती है तो ज्ञात होता है कि भारतीय दार्शनिकों और दार्शनिक संप्रदायों के विचार एक न होकर अलग–अलग हैं। कोई दार्शनिक संप्रदाय अनधिगतता को प्रमा का निर्धारक तत्त्व मानता है तो कोई अन्य दार्शनिक संप्रदाय अबाधिता को प्रमा का निर्धारक तत्त्व मानता हुआ दिखलाई देता है। कुछ दार्शनिक, नवीनता को प्रमा का मापदण्ड मानते हैं तो कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं जो उपयोगिता को प्रमा की प्रमुख कसौटी या निर्धारक तत्त्व मानने पर जोर देते हैं। फलतः यही स्थिति प्रमा के स्वरूप के संबंध में भी दिखलाई देती है। प्रमा के स्वरूप और उसके निर्धारक तत्त्वों के संबंध में यह मतभेद न केवल विभिन्न भारतीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक संप्रदायों के बीच पाया जाता है बल्कि एक ही दार्शनिक संप्रदाय के अंतर्गत आने वाले कई दार्शनिकों के बीच भी देखा जा सकता है।

इस स्थिति में प्रमा के स्वरूप और उसके निर्धारक तत्त्वों की समस्या के विषय में एक विचारक का यह मत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है जब वह यह कहता है कि–"सत्य ज्ञान को प्रमा तथा असत्य ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है। यह बात यों तो सामान्य तथा सरल प्रतीत होती है किन्तु जब हम गहराई से प्रमा के लक्षण पर विचार करते हैं तो अन्य सभी दार्शनिक समस्याओं की भाँति यह प्रश्न गंभीर एवं जटिल सिद्ध होगा। क्योंकि विभिन्न दार्शनिकों ने प्रमा के लक्षण को जैसा समझा है, उनमें पर्याप्त अंतर पाया जाता है। प्रमा को परिभाषित करते समय वे अपनी समग्र दार्शनिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। वास्तव में किसी भी दार्शनिक समस्या पर एकांगी रूप से विचार किया भी नहीं जा सकता क्योंकि विभिन्न दार्शनिक समस्यायें जाल की भाँति परस्पर उलझी रहती हैं तथा किसी समस्या का विशिष्ट हल अन्य समस्याओं को प्रभावित करता है। अतः सभी अन्य दार्शनिक समस्याओं की भाँति प्रमा का स्वरूप निर्धारित करना भी काफी जटिल समस्या प्रतीत होती है।[2]

प्रमा के स्वरूप और उसके निर्धारक तत्त्वों को लेकर भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों में मतैक्य नहीं है। क्योंकि प्रत्येक भारतीय संप्रदाय में अपनी–अपनी तत्त्व मीमांसीय संस्थापनाओं के अनुरूप ही प्रमा का स्वरूप–निरूपण भी किया गया है। इस संबंध में स्वामी श्री गुरूशणानंद ने भी लिखा है कि "अपनी–अपनी दार्शनिक मान्यताओं के अनुरूप, निश्चित व्यवहार की उपपत्ति के लिए दार्शनिकों ने प्रमात्मक ज्ञान की विभिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। प्रमात्मक ज्ञान की परिभाषाओं में इस वैभिन्न का हेतु विभिन्न संप्रदायों के मान्य आचार्यों की तत्त्व तथा तत्त्व विनिश्चय में उपजीव्य सूक्ष्म एवं स्थूल प्रपंच के प्रति उनकी विशिष्ट दृष्टि है।[3] अतएव प्रमा के स्वरूप एवं उसके निर्धारक तत्त्वों के संदर्भ में प्रत्येक भारतीय मत (संप्रदाय) की पृथक्–पृथक् विवेचना करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

1. चार्वाक दर्शन में प्रमा का स्वरूप

विभिन्न दर्शनों में अनुमान का साधन, व्याप्ति ज्ञान तथा शाब्दी प्रमा का साधन शब्द–ज्ञान माना जाता है। चार्वाक इन दोनों प्रमा–साधनों का निराकरण कर उनसे उत्पन्न प्रमा का निराकरण करता है। व्याप्तिपक्षधर्मताशाली–धूमादि–लिंङ्ग–ज्ञान को अनुमान प्रमाणवादी अग्नि आदि का गमक मानते हैं। लेकिन चार्वाक दर्शन विस्तार से व्याप्ति का निराकरण करता है। चार्वाक का कहना है कि शंकित–निश्चित उभयविधि उपाधिशून्य संबंध ही व्याप्ति है। प्रत्यक्ष ज्ञान में चक्षुरादि इंद्रियाँ वस्तुसत् होकर अपने विषय का ज्ञान करा देती हैं, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान में व्याप्ति आवश्यक नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है, किन्तु अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान अग्निआदि का उपस्थापक होता है, अतः अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान होना आवश्यक है। लेकिन व्याप्ति का ज्ञान किसी भी प्रमाण से संभव नहीं है।[4]

चार्वाक के अनुसार, व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से संभव नहीं है, क्योंकि बाह्य तथा आभ्यांतर दोनों ही प्रत्यक्ष उसके ग्राहक नहीं हैं। बाहरी प्रत्यक्ष केवल स्वयं संयुक्त विषय का ही ज्ञान करा सकते हैं। व्याप्ति ज्ञान के लिए अतीत और अनागत सकल व्याप्य तथा व्यापक पदार्थों की उपस्थिति अपेक्षित है। प्रत्यक्ष द्वारा सम्बद्ध एवं वर्तमान ही केवल इन्द्रिय से गृहीत होते हैं। फलतः अतीत एवं अनागत तथा असम्बद्ध वर्तमान की उपस्थिति प्रत्यक्ष से न होने के कारण सहचाराग्रह होने से, प्रत्यक्ष–प्रमाण से व्याप्ति का ज्ञान संभव नहीं है। व्याप्तिज्ञान, सामान्य (धूमत्व, अग्नित्व आदि) गोचर भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अविनाभाव रूप संबंध, व्यक्तियों का ही संभव है। व्याप्ति का ज्ञान अन्तःकरण से भी संभव नहीं, क्योंकि बाहयार्थ की उपलब्धि में अन्तःकरण बहिरिन्द्रिय निरपेक्ष होकर समर्थ नहीं होता।[5]

"धुआँ और आग में अविनाभाव संबंध है" इस प्रकार के आप्त वाक्यों से भी व्याप्तिज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि लोकानुभूत अतीन्द्रिय ईश्वरादि पदार्थों का उपदेश करने तथा 'जर्फरी–तुर्फरी' आदि निरर्थक शब्दों का उच्चारण करने से धूर्ततावशात् रचित वेदादि ग्रंथों की प्रामाणिकता संदिग्ध है।[6] धूमादि ज्ञान से अग्निआदि विषयक प्रवृत्ति प्रत्यक्षमूलक अथवा भ्रांतिमूलक है। भ्रांति से प्रवृत्त होने पर भी सत्य अग्नि की उपलब्धि आकस्मिक ही है। इसके लिए कार्यकारण भाव–मूलिका कोई नियत व्यवस्था व्यभिचार दर्शन के कारण नहीं दी जा सकती।

अनुमान के द्वारा भी व्याप्ति का ज्ञान संभव नहीं, क्योंकि व्याप्ति–ज्ञान के अनन्तर ही अनुमान प्रमाण अर्थ का निश्चायक होता है। शब्द प्रमाण से भी व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द शक्तिज्ञान के सहकार से भी अर्थ का उपस्थापक होता है। अनुमान, शब्दादि का खण्डन करने पर भी धूमज्ञान के अनन्तर, भ्रांतिमूलक अग्नि विषयक प्रवृत्ति स्वीकार करने से यह स्पष्ट है कि चार्वाक भ्रम प्रमा भेद से ज्ञान के दो प्रकार स्वीकार करता है। परिणाम स्परूप यह माना जा सकता है कि "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम अव्यभिचारज्ञानम" ही चार्वाक को प्रमा के रूप में स्वीकार है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उत्पन्न ज्ञान को ही प्रमा के रूप में स्वीकार करता है। उसके मत में श्रुति एवं अनुमान कथमपि प्रमाण नहीं हैं और न ही इनसे प्रमा की निश्चयात्मकता सिद्ध होती है। उसकी इस मान्यता को देखकर यह जिज्ञासा होती है कि क्या वह संपूर्ण दार्शनिक विचारों की उपेक्षा कर धृष्टता एवं अहमन्यता के कारण ही, केवल एक स्वतंत्र मतस्थापना के लिए इनके प्रामाण्य का अपलाप करता है, अथवा इसके मूल में कोई अन्य उत्प्रेरक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्य दर्शनों की भाँति यद्यपि चार्वाक भी अपने सिद्धांतों की स्थापना लोक व्यवहार के आधार पर ही करता है, किन्तु भेद इतना ही है कि जहाँ अन्य दर्शन अपनी मान्यताओं के अनुरूप लोक–व्यवहार की व्याख्या करते हैं वहीं चार्वाक लोक को ही प्रमाण मानकर उसी के अनुरूप सिद्धांतों की व्याख्या करता है। अन्य दर्शन, दृष्टांत ब्याज से आंशिक रूप में ही लोक को प्रमाण मानते हैं, परंतु चार्वाक सर्वथा लोकानुगामी होकर ईश्वर, आत्मा धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों को मान्यता नहीं देता है। अन्य दार्शनिक अनुमान तथा शब्दादि प्रमाणों को लोक में निर्दुष्टतया व्यवस्थित कर उनके माध्यम से, इन अतीन्द्रिय पदार्थों की व्यवस्थापना करते हैं। चार्वाकेत्तर दर्शनों में ईश्वर, धर्माधर्मादि पदार्थ तथा अनुमानादि प्रत्यक्ष भिन्न प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होते हैं, अतः लोकानुभूत इन पदार्थों के निराकरण के लिए, इनको प्रमित करने वाले प्रमाणों को लोक–व्यवहारानुपयुक्त बताकर उनका निराकरण करना, चार्वाक के लिए आवश्यक था। अनुमान को अतीन्द्रिय विषयक प्रमा की उत्पत्ति का साधन न मानने वाले केवल चार्वाकी ही नहीं, वरन् विशिष्टाद्वैत–सम्प्रदाय के आस्तिक दार्शनिक भी हैं। भेद इतना ही है कि चार्वाक मत में केवल अतीन्द्रिय विषयक ही नहीं कोई भी अनुमान प्रमाण नहीं है।

चार्वाक मत में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उत्पन्न "व्यवहारोपयुक्तं प्रत्यक्षप्रमा" को ही प्रमा के रूप में स्वीकार किया जाता है। यद्यपि अन्य दर्शनों में निर्विकल्प तथा सविकल्प दो प्रकार का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान स्वीकार किया जाता है, तथा उनकी उत्पत्ति के क्रम एवं साधन भी भिन्न–भिन्न वर्णित हैं, तथापि चार्वाक को इस विवाद से कोई मतलब नहीं है। वह तो केवल प्रत्यक्ष–प्रमाण से जन्य व्यवहारोपयुक्त प्रत्यक्ष–ज्ञान मात्र को प्रमा के रूप में स्वीकार करने की बात करता है, क्योंकि उसके अनुसार प्रमाण की आवश्यकता व्यवहार के लिए ही होती है। उसके मत में श्रुति एवं अनुमान कथमपि प्रमाण नहीं हैं। फलतः यह माना जा सकता है कि चार्वाक को केवल "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम अव्यभिचार ज्ञानम "अथवा" व्यवहारोपयुक्तं प्रत्यक्ष ज्ञान" ही प्रमा के रूप में स्वीकार है।

2. बौद्ध दर्शन में प्रमा का स्वरूप

बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर ने वैधज्ञान अर्थात्, प्रमा को अनधिगत, अविसंवादी और अर्थ–क्रिया समर्थ कहा है। धर्मोत्तर के अनुसार प्रमा का महत्व उस वस्तु को प्राप्त करने वाली क्रिया में सहयोग देने में है जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है। अर्थात् किसी वस्तु 'क' के ज्ञान से यदि हम 'क' को पा ले रहे हैं तो 'क' का ज्ञान वैध है। धर्मोत्तर का मानना है कि अधिगत ज्ञान से इस प्रकार के लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती अर्थात् जब प्रथमतया हमें उस विषय का ज्ञान होता है तभी हम वस्तु की ओर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आँगे बढ़ते हैं। दुबारा प्राप्त ज्ञान आँगे बढ़ने में हमारी सहायता उस तरह प्रेरक रूप में नहीं करता। इसलिए वैसा ज्ञान जो अनधिगत नहीं है प्रमा नहीं है। बौद्ध दर्शन की इस दृष्टि से स्मृति प्रमा नहीं है। संशय और भ्रम भी प्रमा नहीं है क्योंकि इनसे भी किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। भ्रामक ज्ञान लक्ष्य प्राप्ति में साधक न होने के कारण प्रमा के अंतर्गत नहीं आता। संशय में एक ही वस्तु विषयक ज्ञान एक ही समय में विभिन्न कोटिक–ज्ञान उदभासित होता है। ऐसा किसी भी वस्तु स्वरूप के लिए संभव नहीं है और संशय भी लक्ष्य की प्राप्ति में साधक नहीं होता है। इसीकारण बौद्ध मत तो स्पष्ट रूप से इस विषय पर आग्रह करता है कि अनधिगतता (नवीनता) प्रमा का आवश्यक लक्षण है। उसके अनुसार अधिगत (पाया हुआ, जाना हुआ) ज्ञान प्रमा की श्रेणी में नहीं आता।[7] इस प्रकार बौद्ध दर्शन का मत है कि, किसी भी ज्ञान में जब तक निश्चितता या संशयरहितता, तथा अनधिगतता की अनुभूति न हो, वह प्रमा नहीं होता।[8]

बौद्ध दार्शनिक अविसंवादकता को भी प्रमा का अनिवार्य लक्षण या निर्धारक तत्त्व मानते हैं। बौद्धों द्वारा दिया गया 'अविसंवादी' का अर्थ भाट्ट मीमांसकों के 'अविसंवादी' के अर्थ से भिन्न है। बौद्धों के अनुसार ज्ञान की वस्तु अगर उस ज्ञान के माध्यम से प्राप्त की जा सके तो ज्ञान अविसंवादी है और वह प्रमा की कोटि में आ सकता है। जैसे पर्वत पर धूम को देखकर हमें अग्नि का ज्ञान हो रहा है। अग्नि के इस ज्ञान से उस स्थान पर जाकर यथार्थतः अग्नि प्राप्त किया जा सकता है। इस प्राकर बौद्ध प्रमा की व्यवहारवादी परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार प्रमा का चरम उद्देश्य अर्थसिद्धि है इसलिए वे अविसंवादिता को प्रमा का प्रमुख निर्धारक मानते हैं। बौद्धों के द्वारा बतलाये गये प्रमा के इस अविसंवादिता के लक्षण को और अधिक स्पष्ट समझाते हुए प्रोफेसर अम्बिकादत्त शर्मा अपनी पुस्तक 'बौद्ध प्रमाण दर्शन' में लिखते हैं कि "किसी वस्तु का ज्ञान शून्य में प्राप्त नहीं होता बल्कि व्यवहार में ही होता है। पहले हमें किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है उससे हमें कुछ आकांक्षा होती है तथा हम क्रिया में विशेष रूप से प्रवृत्त होते हैं तथा व्यवहार अथवा क्रिया एवं उसके ज्ञान का यह क्रम निरंतर चलता रहता है। इस समस्त व्यवहार तथा उसके साथ ही उसके ज्ञान में यदि संवाद होता है तो वह प्रमा रूप माना जाता है तथा यदि इसमें किसी भी स्तर पर विसंवाद होता है तो वह ज्ञान अप्रमा रूप माना जाता है।"[9]

न्यायादि–दर्शनों में "अयं घटः" यह सविकल्प प्रत्यक्षात्मक प्रमा ज्ञान तथा "रज्जु" में "सर्प" यह भ्रमात्मक ज्ञान के रूप में स्वीकृत है। किन्तु बौद्ध दार्शनिक इन दोनों ही ज्ञानों को कल्पनाजनित ही मानते हैं। इनके अनुसार घट के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर रूपमात्र की प्रतीति होती है, जो यथार्थतः प्रत्यक्ष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। तदनन्तर पूर्व संस्कारवासना से रसादि का स्मरण होता है। रूप रसादि की प्रतीति कल्पना प्रयुक्त है। फलतः कल्पना पोढ़ न होने से यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। रज्जु में सर्प की प्रतीति भी कल्पना प्रयुक्त ही है। इन्द्रिय–सन्निकर्ष के अनन्तर रज्वाकर का अवगाही निर्विकल्प ज्ञान प्रथमतः होता है। मन्द प्रकाश आदि कारणों से रज्जुस्वरूप, प्रत्यक्ष के अनन्तर स्फुटतया अवभासित नहीं होता, किन्तु पूर्वानुभूत वासनावशात सर्प की प्रतीति होती है। दोनों के कल्पना प्रयुक्त होने पर भी घटज्ञान में अर्थ का अविसंवाद तथा सर्पज्ञान में विसंवाद होने से, घटज्ञान प्रमात्मक तथा सर्पज्ञान भ्रमात्मक होता है। केवल इन्द्रियजन्य न होने से प्रत्यक्षाभास तो दोनों ही हैं। प्रमा स्वरस्पन्दमान मरीचिनिश्चय का प्रतिभास तो प्रत्यक्षात्मक होता है किन्तु उसमें जल की कल्पना प्रत्यक्षाभास है। अनुमानजन्य ज्ञान किसी स्थल में प्रत्यक्ष तथा किसी स्थल में अप्रत्यक्ष दोनों ही माना जाता है।[11] धर्मकीर्ति ने शब्द को, वक्ता के विवक्षित अर्थ को श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित करने के कारण प्रमाण कहा है किन्तु शब्द का यह प्रामाण्य वस्तु के याथार्थ्य के आधार पर नहीं है, अन्यथा विभिन्न शास्त्रों के प्रवर्तक आचार्य तत्व के विषय में विभिन्न मान्यतायें न उपस्थित करते। अतः अर्थ–तत्त्व–निबन्धन न होने से शब्द का प्रामाण्य उपेक्ष्य ही है। यही कारण है कि बौद्ध दार्शनिक शब्दादि को सार्वभौम प्रमाण नहीं मानते क्योंकि अपने–अपने संप्रदायों के सीमित क्षेत्र में ही शब्द, प्रमात्मक ज्ञान करा पाता है किन्तु अपने संप्रदायों में शब्द की प्रामाणिकता बौद्धों को इष्ट है।[12]

वास्तव में धर्मकीर्ति आदि का मत बौद्धों के उपयोगितावाद का ही परिष्कृत रूप है किन्तु पूर्णरूपेण विज्ञानवादी मीमांसा में जिसमें किसी भी स्थायी तत्त्व को हम स्थान नहीं देना चाहते हैं, यह कठिनाई जटिल रूप में सामने आती है कि ज्ञान पूर्णरूपेण वैयक्तिक है अथवा उसमें अवश्य ही व्यक्ति निरपेक्षता तथा साधारणता है? उदाहरणार्थ यदि हम किसी स्थायी जल तत्त्व की निरपेक्ष सत्ता न मानें तब प्रत्येक व्यक्ति का जल का अनुभव न केवल भिन्न–भिन्न होगा बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि अलग–अलग समय उसका जल ग्रहण अपनी सुविधा के अनुसार भिन्न–भिन्न भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में कोई वस्तु है ही नहीं मात्र विज्ञान का एक प्रवाह है, एक के बाद दूसरी कड़ी पूर्णरूपेण असंबंधित होते हुए भी चली जा रही है तथा उसकी निरंतरता ही उसकी अनिवार्यता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान के प्रमात्व अथवा अप्रमात्व की कल्पना कैसे की जा सकती है? बौद्ध स्वयं इस बात को भली प्रकार जानते हैं इसीलिए उन्होनें ज्ञान तथा उसके विषय में साधारणता तथा निरपेक्षता लाने के लिए मूल भ्रांति की चर्चा की है। यह मूल भ्रांति ही हमारे ज्ञान को साधारणता तथा निरपेक्षता प्रदान करती है, क्योंकि यह सभी मनुष्यों में समान है, किन्तु ऐसी स्थिति में यह मत अद्वैत वेदांत के बिल्कुल समीप आ जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्धों द्वारा दी गई प्रमा की परिभाषा तथा प्रमा के अनिवार्य लक्षण 'अविसंवादी' के अर्थ की अलग ढंग से आलोचना करते हुए भाट्ट दार्शनिकों ने लिखा है कि "अगर ज्ञान का उद्देश्य वस्तु को प्राप्त कर लेना ही है और वस्तु की प्राप्ति के पश्चात ही वह सिद्ध होता है तो बिजली चमकने से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह सदैव असिद्ध रहेगा क्योंकि बिजली की चमक को हम प्राप्त नहीं कर सकते।"[13] परंतु इस प्रकार के आक्षेप वास्तव में बौद्ध प्रमा मीमांसा को पूर्णतया ना समझ पाने के कारण लगाये जाते हैं। इस प्रकार के आक्षेप एक प्रकार के भ्रम पर आधारित हैं। यह भ्रम 'अर्थक्रिया समर्थवस्तु प्रदर्शकम् का अर्थ नहीं समझने के कारण हुआ है। 'अर्थक्रिया समर्थ' का अर्थ वैसा ज्ञान नहीं है जो अर्थ प्राप्ति में तत्काल साधक हो या यर्थाथतः साधक हो ही। अर्थक्रिया समर्थ का अर्थ यह है कि अगर उस ज्ञान पर विश्वास करके हम उस वस्तु की प्राप्ति की चेष्टा करें तो वह वस्तु प्राप्त की जा सकेगी। जैसे जल का ज्ञान मुझे हो रहा है और यह प्रमा रूप तभी होगा जबकि प्यास लगने पर यह जल मेरी तृष्णा को शांत कर सके। इसी प्रकार बिजली की चमक की प्राप्ति के संदर्भ में प्राप्ति का अर्थ मात्र मुट्ठी में बंद कर लेना नहीं होता। बिजली की चमक की अनुभूति ही उसकी प्राप्ति है।

3. जैन दर्शन में प्रमा का स्वरूप

जैन–दार्शनिकों के अनुसार वस्तु की सत्ता में ज्ञानमात्र प्रमाण हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार, "जो अपनी सत्ता के लिए अन्य साधन की अपेक्षा न करे, तथा स्वयं दूसरे की सत्ता प्रमाणित करे, वही प्रमाण शब्द से व्यवहृत हो सकता है।" इस परिभाषा की संगति संपूर्ण ज्ञानों में होने से संपूर्ण ज्ञान प्रमाण है। बाध की स्थिति में ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता। न्यायवतारवार्तिक में प्रमाण का लक्षण, बतलाते हुए कहा गया है कि जो ज्ञान अपना तथा अन्य का प्रकाशन करे तथा जिसका विषय बाधित न हो वह प्रमाण है। न्याय दर्शन, मीमांसा दर्शन, और बौद्ध नैयायिक स्मृति को अप्रमा मानते हैं किन्तु जैन दर्शन स्मृति को प्रमा रूप मानता है। जैन दर्शन के अनुसार स्मृति केवल पिछले अनुभवों के संस्कारों की केवल फिर से अभिव्यक्ति नहीं है। जैन दर्शन ज्ञान के पाँच प्रकार मानता है–मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्याय, केवल ज्ञान। मति ज्ञान साधारण ज्ञान है; जो इन्द्रिय से अप्रत्यक्ष संबंध द्वारा प्राप्त होता है, इसी के अंतर्गत आते हैं 'स्मृति', संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञा अथवा पहचान और तर्क अथवा प्रत्यक्ष के आधार पर किया गया आगमन।

जैन दर्शन का कहना है कि स्मृति को इसलिए अप्रमा नहीं कह सकते कि वह भूतकाल का विषय प्रस्तुत करती है, क्योंकि यह उतनी ही वस्तुन्ष्ठि है जितनी कि वे वस्तुयें हैं जो वर्तमान में पाई जाती हैं। जब अनुमान ज्ञान होता है तो स्मृति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसमें सहायक होती है अनुमान के लिए स्मृति आवश्यक है। स्मृति जन्य ज्ञान इतना उपयोगी है कि अल्प ज्ञान के साधनों में इसका उपयोग जरूरी माना गया है स्मृति के प्रमात्व की अवहेलना नहीं कर सकते। भूतकाल के ज्ञान तथा अनुमान द्वारा ज्ञान तथा उपमान प्रमाण में भी स्मृति जन्य ज्ञान की उपयोगिता है। स्मृति प्रमात्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण है स्मृति का विषय वास्तव में वस्तुस्थिति न होकर हमारा पूर्व ज्ञान ही है, वही उसका प्रदत्त है तथा उसी की अनुरूपता पर स्मृति का प्रमात्व अथवा अप्रमात्व निर्भर करता है। हमारे पूर्व ज्ञान के बारे में स्मृति ही प्रमाण है। ज्ञान पूर्णरूपेण वैयक्तिक घटना है तथा स्मृति के अतिरिक्त किसी भी अन्य माध्यम से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए पूर्वज्ञान के विषय में स्मृति को प्रमाण मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। स्मृति भी यथार्थ अथवा अयथार्थ हो सकती है। अतः प्रमा तथा अप्रमा के भेद को स्मृति के संदर्भ में करके स्मृति को प्रमा के अंतर्गत ही माना जाना चाहिए।[16]

जैन दार्शनिकों ने सम्यक् ज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा है कि तत्वों का उनकी अवस्था के अनुरूप संक्षेप या विस्तार से जो बोध होता है उसे ही विद्वान लोग सम्यक् ज्ञान कहते हैं। माध्वाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में इसकी टीका करते हुए कहा है कि जिस स्वभाव अथवा रूप में जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं उसी रूप में मोह तथा संशयं से रहित होकर उन्हें जानना सम्यक् ज्ञान है।[17] ज्ञान की इस परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट हैं—अ—जिस रूप में पदार्थ व्यवस्थित है उन्हें उसी रूप में जानना प्रमा है। ब—वस्तु को मोह से परे अर्थात् पूर्वाग्रह से परे होकर जानना प्रमा है। स—प्रमा संशय रहित ज्ञान है। इस प्रकार जैन ज्ञान मीमांसा में प्रमा के व्यवहारवादी पक्ष को ध्यान में रखकर प्रमा की उपर्युक्त तीन उपाधियाँ बताई गई हैं।

4. न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रमा का स्वरूप

वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि जिससे किसी वस्तु को जाना जाये, वह ज्ञान है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'ज्ञान' ही किसी वस्तु की सत्ता का बोधक है। वस्तु को यथार्थ रूप में बोधित करने पर यह ज्ञान 'प्रमा' शब्द से तथा अयथार्थ रूप में बोधित करने पर भ्रम शब्द से अभिहित किया जाता है। वैशेषिक दर्शन में प्रमात्मक ज्ञान को 'विद्या' शब्द से तथा भ्रम ज्ञान को "अविद्या" शब्द से अभिहित किया गया है। अविद्यात्मक ज्ञान संशय एवं विपर्यय भेद से दो प्रकार का होता है। "इन्द्रियदोषात्संस्कार—दोषाच्चाविद्या।"[18] इस वैशेषिक सूत्र के भाष्य में मन आदि इन्द्रियों के दोषों, संस्कार दोषों तथा अदृष्ट को संशय—विपर्यय—अन्यतर रूप अविद्यात्मक ज्ञान का कारण कहा गया है। अविद्यात्मक ज्ञान के कालांतर में बाधित हो जाने के कारण ही इसे उत्तर सूत्र[19] में दृष्टज्ञान शब्द से भी कहा गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टज्ञान का अभिधेय, दोष सहित ज्ञान है एवं उत्तरकालीन बाध ही उस अविद्यात्मक ज्ञान में दोष है। अतएव बाधरूप दोष से रहित ज्ञान को विद्या[20] शब्द से निर्दिष्ट करते हुए भाष्यकार ने अबाधितार्थ विषयक ज्ञान को 'विद्या' कहा है।[21]

न्याय दर्शन में भी अबाध्यत्व को ही प्रमात्व का प्रयोजक मानकार ज्ञानगत प्रामाण्य या प्रमात्व को अव्यभिचारित्व से व्यक्त किया गया है।[22] न्याय भाष्यकार ने "यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः" इस रूप में प्रमा को परिभाषित करते हुए वस्तु के तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहा है। तत्त्व ज्ञान का तात्पर्य है कि जो वस्तु जिस रूप में हो, उसी रूप में उसकी उपलब्धि होना प्रमा है।[23] आचार्य उदयन ने 'लक्षणमाला' में इसी आशय से प्रमा का लक्षण "तत्त्वानुभूतिः प्रमा" किया है। तत्त्वानुभूति का बाध न होने पर प्रकृत लक्षण "अबाधितानुभूतिः प्रमा" इस लक्षण के प्रतिपाद्य अर्थ का ही शब्दान्तर से अभिलापक है। न्याय कुसुमान्जलि में किये गये 'सम्यक परिच्छतिः प्रमा' तथा 'यथार्थनुभवः प्रमा' इत्यादि लक्षण भी इसी अर्थ का द्योतन करते हैं।

न्याय दर्शन के अनुसार, अनुभव तथा स्मृति के रूप में ज्ञान दो प्रकार का होता है। अनुभव तथा स्मृति दोनों ही यथार्थ एवं अयथार्थ भेद से दो प्रकार के होते हैं। यथार्थानुभव जनित संस्कार जन्य स्मृति के अबाधितार्थ विषयक होने पर भी वह प्रमा नहीं है। स्वजनक संस्कार की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष–जन्य अनुभव की अपेक्षा करते हुए स्मृति परंपरया इन्द्रिजन्य तो हो जाती है, किन्तु स्मृति के प्रति कारण केवल संस्कर को ही माना जाता है, इन्द्रिय को नहीं। लोक में भी स्मृति से भिन्न यथार्थ ज्ञान में ही प्रमात्व व्यवहार होता है। शब्दार्थ संबंध का निश्चय लोक के अधीन होने के कारण भी स्मृति को प्रमा नहीं माना जाता है।[24] वस्तु के यथार्थ रूप में अवबोध को उपरिवर्णित रीति से, प्रमा ज्ञान मानने पर तो यथार्थ स्मृति को भी प्रमाण मानना चाहिए। यदि यह कहें कि वस्तु के यथार्थ रूप में अवबोध के साधन को तो प्रमाण कहेगें किन्तु यह अवबोध अपूर्व होना चाहिए। अतः अधिगत विषयक स्मृति के अपूर्व बोधक न होने के कारण उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि "घटोऽयं घटोऽयम" इस प्रकार की धारावाहिक बुद्धि के अधिगत विषयक होने पर भी इस ज्ञान में प्रमात्वव्यवहार लोक सिद्ध है। यदि यह कहा जाये कि तत् तत् क्षणों के भिन्न होने के कारण क्षण विशिष्ट वस्तु को भी भिन्न मानकर ही धारावाहिक ज्ञान में प्रमात्व की उपपत्ति की जा सकती है, तो यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि "तत्तक्षणविशिष्टघट" को भिन्न मानकर भी धारावाहिक ज्ञानों में अनधिगत' विषयकत्व की उपपत्ति अशक्य ही है। इस प्रकार काल के अत्यंत सूक्ष्म, कला आदि भेदों को नहीं जाना जा सकता। अतएव आचार्य उदयन ने "यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते"[25] इस कारिकार्थ के द्वारा विषय की अवधारणा में निरपेक्षतया समर्थ, यथार्थानुभव को प्रमात्वेन गृहीत किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्याय मंजरी में जयन्त ने प्रमा के तीन लक्षण बतलाये हैं–अर्थोपलब्धि, असंदिग्ध और अव्यभिचारी।[26] जयंत भट्ट मीमांसकों, बौद्धों और सांख्यों द्वारा बतलाये गये प्रमा के लक्षण 'अनधिगततत्त्व' को नहीं स्वीकार करते क्योंकि जयंत के अनुसार प्रमा को 'अनधिगत' बताना प्रमा की अव्याप्त परिभाषा है। अगर प्रमा अनधिगत है तो धारावाहिक प्रत्यक्ष को प्रमा की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए।[27] यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि अगर अनधिगतता प्रमा की अनिवार्य उपाधि नहीं है तो स्मृति भी प्रमा की कोटि में आ जायेगी, जबकि नैयायिक स्मृति को अप्रमा कहते हैं। इस आपत्ति का खंडन जयंत 'अर्थोपलब्धि' की व्याख्या से करते हैं। जयंत के मतानुसार अर्थजन्योपलब्धि का सही अर्थ 'अर्थजनयोपलब्धि' है अर्थात् अगर कोई बोध किसी यथार्थ वस्तु से आता है तो उसे प्रमा कहेगें। स्मृति की अवस्था में जो बोध प्रमाता को होता है वह बोध किसी यथार्थ वस्तु के द्वारा न होकर वस्तु की छाया के कारण होता है अतः स्मृति जन्य ज्ञान अथवा स्मृति प्रमा नहीं है। प्रमा का दूसरा लक्षण है कि प्रमा असंदिग्ध है। प्रमा को असंदिग्ध कहने का अर्थ है कि प्रमा विषयनिष्ठ है। किन्तु भ्रम भी विषयनिष्ठ होता है। वस्तुतः प्रमा और भ्रम दोनों में प्रमाता असंदिग्ध होता है, किन्तु भ्रम अप्रमा इसलिए है कि उसमें अर्थोपलब्धि का अभाव रहता है। अर्थोपलब्धि से प्रमा की वस्तुनिष्ठता पर बल पड़ता है। परंपरागत न्याय दर्शन में प्रमा का तीसरा लक्षण 'अव्यभिचारी' होना बतलाया गया है। न्याय मतानुसार प्रमा की यथार्थता का अर्थ है प्रमा का अव्यभिचारी होना।[28] अव्यभिचारी का अर्थ है कि प्रमा भ्रामक और मिथ्या न हो। न्याय दर्शन में प्रमा की यथार्थता पर अत्यधिक बल दिया गया है।[29]

नव्य नैयायिकों ने यथार्थ पद के विभिन्न अर्थ बतलाकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि प्रमा को यथार्थता की पदावली में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। तत्त्व चिंतामणि में गंगेश ने प्रमा की यथार्थता का खंडन किया है और प्रमा की परिभाषा देते हुए कहा कि जहाँ जो है उसकी उसी रूप में अनुभूति प्रमा है।[30] गंगेशोपाध्याय ने कहा है कि अगर 'यथार्थता' का अर्थ अबाधिता हो तो यह प्रमा का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि अगर एक ज्ञान दूसरे से बाधित होता है तो इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि दोनों में प्रमा कौन सा है? गंगेश के अनुसार यथार्थता को 'अविसंवादित्व' के अर्थ में स्वीकार करने में भी कठिनाई है क्योंकि संवाद का अर्थ है एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान में समान रूप से उल्लेखित होना। परंतु यह तो भ्रम में भी संभव है। पुनः स्वप्न जगत में भी बहुधा विभिन्न ज्ञानों में संवाद होता है परंतु वह प्रमा नहीं होता। इसी कारण गंगेश प्रमा को "जहाँ जो है उसमें उसी का अनुभव" कहकर परिभाषित करते हैं। गंगेश की इस परिभाषा में 'तद्वत' वस्तु की तात्विक स्थिति की ओर तथा 'तत्प्रकारका' वस्तु की ज्ञानात्मक स्थिति की ओर संकेत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता है।[31] इस प्रकार गंगेश की परिभाषा का अर्थ है कि प्रमा में ज्ञान का प्रकार वस्तु की तात्विक अथवा वास्तविक स्थिति के अनुरूप होता है।

5. सांख्य-योग दर्शन में प्रमा का स्वरूप

सांख्य दर्शन के ग्रंथ सांख्यसूत्र में "असन्निकृष्टार्थ–परिच्छितिः प्रमा"[32] यह प्रमा का लक्षण किया गया है। इसके अनुसार प्रमाता में अनारूढ़ अर्थात् अनधिगत वस्तु का अवधारण ही प्रमा कहलाता है। सांख्यकारिका में प्रमा की परिभाषा देते हुए कहा गया है–"असंदिग्धा विपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरूषेयः फलं प्रमा। "अर्थात्" यथार्थ ज्ञान (प्रमा) बुद्धि का ऐसा विकार है जो अविपरीत, असंदिग्ध और अनधिगत विषय को प्रकट करता है।[33] अन्यत्र भी कपिलमुनि ने प्रमा को नवीनता और निश्चयात्मकता से परिभाषित किया है।[34] प्रमा को बुद्धि का विकार कहने से यह स्पष्ट होता है कि प्रमा में जिस वस्तु की प्रतीति प्रमाता को होती है वह वस्तु पारमार्थिक रूप से ठीक उसी आकार में वहाँ नहीं होती। किन्तु उस वस्तु के रूप में प्रकृति वहाँ अवश्य होती है अतः यहाँ विषय का उपादान यथार्थ है। किन्तु उपादान की यथार्थता और उपादान की वस्तुनिष्ठता के बाद भी वस्तु का आकार परमार्थ नहीं है। यह तो अन्तःकरण वृत्ति है जो वस्तु का रूप धारण करती है। यह अवश्य है कि प्रमा में जो वस्तु प्रतिबिम्बित होती है वह शून्य नहीं है क्योंकि शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।

सांख्य दर्शन में प्रमा का दूसरा लक्षण अविपरीत होना बतलाया गया है। अविपरीत कहने का अर्थ है–ऐसा ज्ञान जिसका विरोध अथवा खंडन दूसरे ज्ञान के द्वारा न हो। कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार भी सांख्य मत में वैद्य ज्ञान के चार लक्षण बतलाये गये हैं–चित्तवृत्ति, यथार्थता, असंदिग्धता और नवीनता। यहाँ पर इन्होनें 'यथार्थता' शब्द का प्रयोग 'अविपरीत' शब्द के स्थान पर किया है। इस मत के अनुसार सांख्य दर्शन में यथार्थता का अर्थ है–ज्ञान का वस्तु की प्रतिच्छति होना।[35] सांख्य मत के अनुसार प्रमा का अन्य लक्षण है इसका अनधिगत होना। अनधिगत का अर्थ है 'पूर्व ज्ञात न होना'। प्रमा को 'अनधिगत' के रूप में परिभाषित करने पर सांख्यों के समक्ष धारावाहिक प्रत्यक्ष की समस्या आती है–क्या धारावाहिक प्रत्यक्ष प्रमा नहीं है? सांख्य इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तुतः धारावाहिक प्रत्यक्ष में अनन्त प्रत्यक्ष होते ही नहीं। प्रत्यक्ष में अन्तःकरण वृत्ति ही वस्तु का रूप धरकर हमारे सामने आती है और जितने क्षण भी हमारे सामने रहती है, एक ही वस्तु के रूप में रहती है। अतः धारावाहिक प्रत्यक्ष में वस्तु नहीं बदलती जिससे कि कहा जाये कि प्रथम क्षण का ज्ञान दूसरे क्षण के ज्ञान की नकल है, अतः यह अधिगत नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सांख्य दर्शन में प्रमा को संदेह से परे भी कहा जाता है। संदेह से परे होने का अर्थ है कि प्रमा में निश्चितता होती है। प्रमा को जब 'संदेह से परे' कहा जाता है तो प्रभाकर मीमांसक इसे अनावश्यक कह देते हैं क्योकि उनका कहना है कि अनधिगत कहने से ही स्पष्ट है कि 'ऐसी प्रत्यभिज्ञा जो इससे पूर्व न हुई हो'। संदेह की स्थिति में प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। अतः प्रमा को अनधिगत कहने से ही प्रमा या यथार्थ ज्ञान की कोटि से संदेह का निराकरण होता है।[36] 'सांख्य दर्शनम्' में कपिल मुनि ने प्रमा को 'पहले नहीं जाने हुए का ज्ञान' कहा है।[37]

प्रमा के संबंध में सांख्य तथा योग दर्शन में मतभेद नहीं है। योगसूत्र के व्यास भाष्य में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है कि "पुरुष के लिए ही इन्द्रियादि कारणों की प्रवृत्ति होती है, अतः पुरुषनिष्ठ बोध ही प्रमा है।[38] सांख्यदर्शन में भी यही मत प्रधानतया स्वीकृत है। योग दर्शन के अनुसार प्रकार संशय, विपर्यय तथा स्मृति से भिन्न ज्ञान प्रमा है।[39] योगदर्शन के अनुसार प्रमा का लक्षण "अनधिगततत्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा" है। शब्दतः भिन्न होने पर भी यह लक्षण अर्थांश में सांख्य–लक्षण से अभिन्न ही है। लक्षणगत "अनधिगत" शब्द, स्मृति की "तत्त्व" शब्द, भ्रम की तथा "व्यवहारहेतु" पद, संशयात्मक ज्ञान की व्यावृत्ति करते हैं। पौरूषेय पद, प्रमा को पुरुषगतत्ववेन अधिगत कराता है। इस प्रकार योग तथा सांख्य–दर्शन प्रमा की उपपत्ति तथा ज्ञान की अन्य विधाओं के विषय में समान दृष्टिकोण रखते हैं।

6. मीमांसा दर्शन में प्रमा का स्वरूप

पार्थसारथी मिश्र के अनुसार, "कारणदोष बाधक ज्ञान रहितम् अगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम्" अर्थात् कारण दोषरहित, या कारण दोष ज्ञान रहित, बाधक ज्ञानरहित, अज्ञात को विषय करने वाला ज्ञान, प्रमाण होता है। जहाँ बाधक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, वहाँ केवल कारण दोष के ज्ञान से ही, ज्ञान अप्रमाण हो जाता है। जैसे "नदी के किनारे पाँच फल हैं" इस वाक्य को सुनकर नदी के किनारे न जाकर भी श्रोता को वक्ता में वंचकत्व मात्र के ज्ञान होने पर उपर्युक्त वाक्यजन्य ज्ञान में अप्रामाण्य का ज्ञान हो जाता है। नदी के किनारे न जाने के कारण वहाँ प्रत्यक्षात्मक बाधक ज्ञान की संभावना नहीं है। फलतः कारणदोष ज्ञान रहितत्व विशेषण न देने पर, बाधक ज्ञानरहित, अगृहीतग्राही उक्त वाक्यजन्य ज्ञान भी प्रमा हो जायेगा। यदि बाधक ज्ञान रहितत्त्व विशेषण न दिया जाये तो "इदं रजतम" आदि भ्रम भी कारण दोषरहित अगृहीतग्राहीज्ञान होने से प्रमात्मक हो जायेगें।[40]

भाट्ट मीमांसकों का अगृहीत–ग्राहि–शब्द से ज्ञातार्थ–ज्ञापक अनुवादक ज्ञानों की व्यावृत्ति प्रदर्शित करने का कारण, वेद के निरपेक्ष प्रामाण्य की स्थापना के प्रति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशेष आग्रह है। भाट्ट—मीमांसक अज्ञातार्थ के ज्ञापक विधि—भाग को भी स्वतंत्र मानते हैं। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार, अर्थवाद आदि वेदवाक्य भी विधेय के स्तुति या निंदापरक होकर विधिवाक्यों से एकवाक्यतापन्न होकर ही प्रामाणिक होते हैं। विधिवाक्य से एकवाक्यता के अभाव में उनका स्वतंत्र प्रामाण्य नहीं होता।[41] भाट्ट—मीमांसकों का यह सिद्धांत है कि, प्रत्यक्ष एवं अनुभव से भिन्न किसी भी अन्य साधन से अज्ञात तथ्य का ज्ञापन करने के कारण भी वेद प्रमाण हैं। अतएव स्मृतिकारों ने वेद के निरपेक्ष प्रामाण्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि "प्रत्यक्ष या अनुमिति से भी जिस अर्थ को नहीं जाना जा सकता, वह वेद से ही जाना जाता है।

कुमारिल वैध ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि—

"तस्मात् दृढ़ं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयमान्।।" [42]

भाट्टोम्बेक इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहाँ 'दृढ़' प्रमा में संदेह के अभाव का द्योतक है तथा 'विसंवादमृच्छति' (जिसे वह 'नापि संवादमृच्छति 'के स्थान पर प्रयोग करते हैं) का अर्थ है कि "जिसका किसी अन्य ज्ञान से बाध (खंडन) नहीं होता। "अबाधित होने के कारण प्रमा भ्रम से भिन्न है क्योंकि भ्रमात्मक ज्ञान अपने परवर्ती ज्ञान से बाधित होता है। सुचरित मिश्र के अनुसार प्रमा को अबाधित और अनधिगत होना चाहिए।[43]

जबकि पार्थसारथी के अनुसार, वैध ज्ञान वह है जो कारण दोष से रहित हो अर्थात् जिसका स्त्रोत (प्रमाण) दोषरहित हो, जो अबाधित हो तथा जो अनधिगत हो।[44] इस प्रकार भाट्ट मीमांसकों के अनुसार वैध ज्ञान के निम्नलिखित चार लक्षण या निर्धारक तत्त्व हैं।[45] 1. अबाधित्व—अबाधित्व अर्थात् अपने परवर्ती ज्ञान द्वारा खण्डित न होना। 2. अनधिगतत्व—अनधिगतत्व अर्थात् ऐसे विषय का ज्ञान जिसका पूर्व से ज्ञान न हो। भाट्ट ज्ञान को व्यवहारिक उपयोग के संदर्भ में रखकर देखते हैं। व्यवहारिक रूप से उसी ज्ञान की उपादयेता है जो नवीन हो। जिसे हम पहले जानते हैं उसे फिर जानकार व्यवहारिकता में कोई सहयोग नहीं मिलता। 3.असंदिग्धत्व—असंदिग्धत्व का अर्थ है प्रमा वह है जो संदेह से परे हो। 4. कारणदोष रहितत्त्व—प्रमा कारण दोषरहित है। प्रमा के कारण (स्त्रोत) को प्रमाण कहते हैं अतः किसी ज्ञान के 'कारणदोष रहित' होने का अर्थ है कि वह ज्ञान प्रमा है जो उचित प्रमाण से प्राप्त किया गया है। इस अर्थ में प्रमा के लिए प्रमाण अपरिहार्य है। पुनः कारणदोषरहित और अबाधित कोई ज्ञान तभी हो सकता है जबकि वह यथार्थ हो।

भाट्ट मीमांसकों के प्रमा संबंधी इन लक्षणों की आलोचना में प्रभाकर मत के समर्थक आचार्य शालिकनाथ ने कहा कि वैध ज्ञान को अनधिगत कहना ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की परिभाषा को अव्याप्त बनाना है तथा दृढ़ पद अनावश्यक है। ज्ञान को 'अविसंवादी' कहना अर्थात् अभ्रमात्मक कहना भी उचित नहीं क्योंकि वस्तुतः भ्रम भी यथार्थ ही होता है।[46] वस्तुतः भाट्टों के सम्मुख प्रमा को अनधिगत कहते ही धारावाहिक प्रत्यक्ष की समस्या आ जाती है कि क्या धारावाहिक प्रत्यक्ष प्रमा नहीं है? जैसे–किसी वस्तु 'क' का प्रत्यक्ष यदि हमें 'क्ष' क्षण में हो रहा है तो सिद्धांततः यह 'क्ष' क्षण अनन्त सूक्ष्मतम खण्डों में विभाज्य है। मान लें कि वह विभाग क्ष1 क्ष2 इत्यादि है। क्षण क्ष1 में वस्तु 'क' का हमें ज्ञान हो रहा है वह क्षण क्ष में हमें हो चुका है। अतः धारावाहिक प्रत्यक्ष में क्षण क्ष1 में होने वाला ज्ञान अनधिगत नहीं है। पुनः क्ष1 के भी अनेक खण्ड हो सकते हैं जैसे क्ष1 क क्ष1 ख इत्यादि इस प्रकार क्षण क्ष1 का प्रत्यक्ष भी धारावाहिक प्रामाणित होता है। तो क्या प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमा की कोटि में नहीं रखना चाहिए? परंतु भाट्ट मत तो प्रत्यक्ष को प्रमाण की संज्ञा देता है। इस आपत्ति के निराकरण के लिए भाट्ट मीमांसक कहते है कि यह दोषारोपण मात्र धारावाहिक प्रत्यक्ष के स्वरूप को न समझने के कारण किया जाता है। भाट्टों के अनुसार क्ष क्षण के विभिन्न अंशों यथा क्ष1 क्ष 2 इत्यादि में जिस वस्तु 'क' का प्रत्यक्ष किया जाता है, यद्यपि विभिन्न क्षणों के परिवर्तन के बीच भी वह वस्तु शाश्वत है तथापि क्षण तो परिवर्तित हो रहे हैं, अतः क्षण 'क्ष' में जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है वह वस्तु क1 है और क्ष2 में जिस वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है वह वस्तु क2 है। इस प्रकार धारावाहिक प्रत्यक्ष भी अनधिगत है और प्रमा की कोटि में आता है।[47]

मीमांसा–संप्रदाय के अन्य आचार्यों की भाँति प्रभाकर भी प्रमा को प्रमाण शब्द से अभिहित करते हैं। प्रभाकर मत में सभी ज्ञान यथार्थ स्वीकार किये जाते हैं। फलतः संशय, विपर्यय तथा भ्रांति रूप ज्ञान भेद इस मत में मान्य नहीं है। प्रभाकर लोकानुभव–सिद्ध भ्रांतिव्यवहार की अत्यंत उपेक्षाकर सभी अनुभवों को यथार्थ मान लेते हैं।[48] प्राभाकारों का मानना है कि स्मृति प्रमोष के कारण "इदं रजतम्" इत्यादि स्थल में भ्रमत्व की उत्पत्ति करने पर भी इस (स्मृति प्रमोष को) सर्वत्र भ्रम का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। अङ्–गुल्यवष्टम्भ से जहां दो चंद्रमा प्रतीत होते हैं, वहाँ एक ज्ञान को प्रत्यक्षात्मक तथा दूसरे को स्मृत्यात्मक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दोनों ज्ञान प्रत्यक्ष रूप होने के साथ–साथ यथार्थ भी हैं। एक ही व्यक्ति को एक ही काल में द्विचन्द्र प्रतीति का कारण अङ्–गुल्यवष्टम्भ आदि के द्वारा चक्षुरिन्द्रिय का द्विधाविभक्त होकर दो स्वतंत्र इन्द्रियाँ हो जाना है। फलतः दो स्वतंत्र इन्द्रियों से होने वाले इन दोनों ज्ञानों को प्रमात्मक मानने में आपत्ति नहीं है। अलातचक्रभ्रम, निरन्तरोत्पन्न अलात विषयक यथार्थ ज्ञानों के कारण ही होता है। ज्ञान धारा में पतित ज्ञानों के मध्य का अन्तराल अत्यंत कम होने के कारण उनका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भेद ग्रहण न होने से उसमें चक्रबुद्धि हो जाती है। फलतः भ्रम और संशय न होने तथा यथार्थ–अनुभवजन्य–संस्कारजन्य स्मृति के भी यथार्थ होने के कारण "सर्वे प्रत्यया यथार्थाः" यह प्रतिज्ञा प्रभाकर मत में उपपन्न हो जाती है। स्मृति को अनुभव सापेक्ष होने के कारण प्रमाण नहीं माना जाता। इस प्रकार प्रभाकर मत में प्रमाण का (प्रमा का) निकृष्ट लक्षण स्मृति भिन्न अनुभूति अथवा "संस्कारतिरिक्त कारणजन्यं ज्ञानं प्रमाणम" उपपन्न होता है।[49]

प्रभाकर मीमांसाकों के अनुसार वैध ज्ञान अथवा प्रमा 'अनुभूति है। यहाँ 'अनुभूति' का अर्थ मात्र 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान' नहीं है। अपितु यहाँ 'अनुभूति' पद का प्रयोग व्यापक है। इस मत के अनुसार, उपमानादि अन्य ज्ञान भी अनुभूति हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार स्मृति की उपस्थिति मात्र से कोई अनुभूति अप्रमा नहीं होती। व्याप्ति में अनुभूति उपस्थिति मात्र रहती है किन्तु इन अवस्थाओं में इन्द्रिय वस्तु के संपर्क में रहती है। उदाहरण के लिए जैसे हम देखते हैं कि इन्द्रियों के साक्षात् संपर्क में धुआँ आया और हमारा निर्णय अग्नि से संबंधित है जो इन्द्रियों के संपर्क में नहीं है अर्थात् हमरा अग्नि (आग) का ज्ञान साक्षात् है। स्मृति में भी यही होता है। जैसे इस समय हम स्मरण कर रहे हैं कि कल जब हम भ्रमण कर रहे थे तो एक विषधर हमारे पैरों के पास सरक गया था–इस ज्ञान को अवैध कहने का मीमांसकों का आधार क्या है? यही न कि उस समय जिस सर्प की अनुभूति हमें हुई वह साक्षात् नहीं है, या इस समय जो अनुभूति हमें हो रही है वह सर्प के द्वारा नहीं सर्प के संस्कार से उत्पन्न अर्थात् असाक्षात् है। किन्तु सर्प का संस्कार तो कल हमने जो सर्प देखा था उससे प्राप्त हुआ है, अर्थात् फिर तत्वतः हम अनुमान वाली स्थिति में पहुंच गये। (क) कल हमने सर्प देखा–अर्थात् सर्प से इन्द्रिय का साक्षात् संपर्क, तथा (ख) सर्प की स्मृति अर्थात् सर्प हमारे इन्द्रिय संपर्क में नहीं आया फिर भी सर्प का ज्ञान। इस प्रकार स्मृति भी अनुमान की भाँति असाक्षात् ज्ञान प्रमाणित होती है। इसी कारण अनुमान को प्रमा की कोटि में रखकर स्मृति का बहिष्कार उचित प्रतीत नहीं होता है।

किन्तु प्रभाकर मत में प्रमा को 'अनुभव' मात्र के पद में परिभाषित करने पर सभी प्रकार की अनुभूति, जिसमें भ्रम भी है, वैधता की श्रेणी में आ जाती है। वस्तुतः प्रभाकर मत ज्ञानमीमांसा तथा तत्व मीमांसा दोनों ही क्षेत्रों में कट्टर वास्तवादी है। उनकी मान्यता है कि हमारे ज्ञान के विषय स्वतंत्र रूप में अस्तित्ववान हैं और हमारा ज्ञान मात्र उन्हें प्रकाशित करता है। यह मत प्रचलित वास्तववाद का है जो यह मानता है कि वस्तु का जैसा ज्ञान हमें होता है, वस्तु वैसी ही है। इस प्रकार के प्रतिबद्ध वास्तवादी दर्शन में भ्रम का कोई स्थान नहीं रह जाता, फलतः प्रभाकर भ्रम की व्याख्या ख्यातिवाद से करते हुए भ्रम को भी यथार्थ कहते हैं।[50]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

7. वेदांत दर्शन में प्रमा का स्वरूप

वेदांत संप्रदाय में व्यवहारकालिक प्रमाण–प्रमेय आदि व्यवहार भाट्ट मीमांसकों की व्यवस्था के अनुसार ही होते हैं। अतएव इस मत में "अनधिग–ताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम" अर्थात् जो ज्ञान अगृहीत तथा अबाधित अर्थ को विषय करता है वह प्रमा है। लक्षणगत "अनधिगत" पद स्मृति की तथा "अबाधित" पद भ्रम ज्ञान की व्यावृत्ति करता है। धर्मराजा ध्वरीन्द्र ने वेदांत परिभाषा में प्रमा की दो प्रकार की परिभाषाऐं दी हैं–1.स्मृति के अतिरिक्त अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है।[51] प्रमा की इस परिभाषा में ज्ञान की दो उपाधियाँ हैं–(क) ज्ञान अनधिगत होता है अर्थात् नवीनता प्रमा की अन्यान्य उपाधि है। (ख) प्रमा अबाधित विषय का ज्ञान है। अबाधितत्त्व वह है जो अपने परवर्ती ज्ञान द्वारा खंडित न हो। 2. प्रमा की दूसरी परिभाषा स्मृति को प्रमा की श्रेणी में रखकर की गई है। इस परिभाषा के अनुसार–अबाधित विषय का ज्ञान प्रमा है।[52] प्रमा की इन दो परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि स्मृति के अतिरिक्त जिस किसी ज्ञान को प्रमा की कोटि में रखा जाये उसकी अनिवार्य उपाधि है कि वह अनधिगत हो तथा अबाधित हो। स्मृति के क्षेत्र से भी उसी स्मृति को प्रमा की कोटि में रखा जा सकता है जो अबाधित हो।

वेदांत ज्ञान मीमांसा में जो नई बात सामने आती है वह स्मृति से संबंधित है। वेदांती स्मृति को प्रमा रूप प्रमाणित करने को कटिबद्ध है और इस हेतु वह प्रमा की परिभाषा में इस अपवाद के लिए भी स्थान छोड़ देते हैं कि स्मृति के अतिरिक्त प्रमा को अनधिगत होना चाहिए। अन्य दार्शनिकों, जैसे मीमांसकों, नैयायिकों तथा सांख्यों ने स्मृति को प्रमा की कोटि में नहीं रखा है। वेदांत दर्शन इस दृष्टि से अन्य आस्तिक दर्शनों की अपेक्षा अधिक व्यवहारिक प्रतीत होता है क्योंकि व्यवहार जगत में प्रमा किसी अर्थ सिद्धि का साधन होता है। उस रूप में बहुधा स्मृति को भी प्रमा रूप मानकर निष्कर्ष निकाले जाते हैं, जैसे इस समय मुझे स्मरण हो रहा है कि कमरे की चाबी मैंने पड़ोसी को दे दी है, इस स्मृति को यथार्थ (प्रमा रूप) मानकर ही मैं पड़ोसी के पास जाकर कमरे की चाबी लेने जाते हैं।

सारांश

प्रमा के स्वरूप और उसके निर्धारक तत्त्वों के संबंध में विभिन्न भारतीय दार्शनिक संप्रदायों के विचारों से स्पष्ट होता है कि विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न रूपों में "प्रमा" एवं "अप्रमा" के विज्ञान को व्यवस्थित किया है। चूंकि संपूर्ण दर्शन तत्त्व विनिश्चय के लिए प्रयत्नशील हैं, अतः सभी दार्शनिकों ने अपने सिद्धांतों के अनुरूप प्रमात्व–स्वरूप का निर्धारण कर उसके साधनों एवं साधकों का विश्लेषण किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपनी–अपनी दार्शनिक मान्यताओं के अनुरूप, निश्चित व्यवहार की उपपत्ति के लिए दार्शनिकों ने प्रमात्मक ज्ञान की विभिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। प्रमात्मक ज्ञान की परिभाषाओं में इस वैभिन्न का हेतु विभिन्न संप्रदायों के मान्य आचार्यों की तत्व विनिश्चय में उपजीव्य सूक्ष्म एवं स्थूल प्रपंच के प्रति उनकी विशिष्ट दृष्टि है। उदाहरण के लिए जैसे चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण स्वीकार करता है।

जबकि अन्य दार्शनिक अनुमान तथा शब्दादि प्रमाणों को लोक में निर्दुष्टतया व्यवस्थित कर उनके माध्यम से इन अतीन्द्रिय पदार्थों की व्यवस्थापना करते हैं। इसी प्रकार षोड्श पदार्थों के तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस की प्राप्ति का हेतु मानने वाले नैयायिक आचार्यों ने संप्रदाय–स्वीकृत मान्यताओं के अनुरूप "तत्त्वानुभूतिः प्रमा" आदि ऐसे लक्षण प्रस्तुत किये जिनसे घट–पटादि पदार्थों की स्थिरता स्थापित की जा सके। वस्तुतः व्यवहार में अनुभूयमान पदार्थो की सत्ता का सर्वथा अपलाप करने का साहस तो कोई दार्शनिक न कर सका किन्तु उन्होनें अपनी मान्यताओं के आधार पर ऐसी व्याख्यायें प्रस्तुत की जिनके आधार पर व्यवहार को समन्वित करने पर भी तत्त्व एवं तत्त्व साधन के प्रति उनका दृष्टिकोण अविकल रहे। यद्यपि एक संप्रदाय के विभिन्न चिंतक परिभाषेय वस्तु के नाना लक्षण करते दिखलाई देते हैं तथापि वे सभी लक्षण उक्त संप्रदाय की मूलभूत मान्यताओं का अतिक्रमण नहीं करते। फलतः प्रत्येक दर्शन की संपूर्ण चिंतन–प्रक्रिया एक सूत्र में बंधी हुई प्रतीत होती है।

संदर्भ

1. स्वामी श्री गुरूशरणानंद (कुलपति डॉ0 मण्डन मिश्र की प्रस्तावना से अलंकृत) खण्डनखण्डखाद्य–प्रमापक्ष, डॉ0 हरिश्चंद्रमणि त्रिपाठी, संपूर्णानंद संस्कृत वि0वि0, वाराणसी, 1997, पृ–41
2. डॉ0 नंदकिशोर शर्मा–भारतीय दार्शनिक समस्यायें, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, 1997, पृ–38
3. स्वामी श्री गुरूशरणानंद (कुलपति डॉ0 मण्डन मिश्र की प्रस्तावना से अलंकृत) खण्डनखण्डखाद्य–प्रमापक्ष, डॉ0 हरिश्चंद्रमणि त्रिपाठी, संपूर्णानंद संस्कृत वि0वि0, वाराणसी, 1997, पृ–41
4. स्वामी श्री गुरूशरणानंद (कुलपति डॉ0 मण्डन मिश्र की प्रस्तावना से अलंकृत) खण्डनखण्डखाद्य–प्रमापक्ष, डॉ0 हरिश्चंद्रमणि त्रिपाठी, संपूर्णानंद संस्कृत वि0वि0, वाराणसी, 1997, पृ–44
5. स्वामी श्री गुरूशरणानंद (कुलपति डॉ0 मण्डन मिश्र की प्रस्तावना से अलंकृत) खण्डनखण्डखाद्य–प्रमापक्ष, डॉ0 हरिश्चंद्रमणि त्रिपाठी, संपूर्णानंद संस्कृत वि0वि0, वाराणसी, 1997, पृ–44
6. वही
7. डॉ0 एच.एन. मिश्र–भारतीय दर्शन (ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्व मीमांसा) शेखर प्रकाशन इलाहबाद, सन् 2004, पृ–25

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

8. डॉ0 नंदकिशोर शर्मा–भारतीय दार्शनिक समस्यायें, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, 1997, पृ–60
9. डॉ0 नंदकिशोर शर्मा–भारतीय दार्शनिक समस्यायें, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, 1997, पृ–61
10. न्याय बिन्दु टीका, पृ–16
11. एतच्चानुमानज्ञानं क्वचिदप्रत्यक्षं क्वचिच्च प्रत्यक्षमेव। प्रमाण वार्तिक भाष्य, पृ–332
12. स्वामी श्री गुरुशरणानंद–खण्डनखण्डखाध–प्रमापक्ष, डॉ0 हरिश्चंद्रमणि त्रिपाठी, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997, पृ–50
13. डॉ0 नीलिमा सिन्हा–भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 2005, पृ–35 (श्लोक वार्तिक, मद्रास वि0वि0 1940, 2/76)
14. डॉ0 राधाकृष्णन–भारतीय दर्शन, भाग–1 पृ–239
15. वेदान्त परिभाषा, पृ–16
16. डॉ0 नंदकिशोर शर्मा–भारतीय दार्शनिक समस्यायें, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, 1997, पृ–47.48
17. सर्वदर्शन संग्रह, पृ–137
18. वैशेषिक सूत्र, 9.2.10
19. तदनुष्टज्ञानम्, वैशेषिकसूत्र, 9/2/11
20. अदुष्टविधा–वैशेषिक सूत्र 9.2.12
21. अबाधितार्थ विषयं ज्ञानं विधेति भावः। प्रमाणभाष्य, 9.2.12
22. तदेव (अव्यभिचारित्वे) हि प्रामाण्यम्। न्मय वार्तिका तात्पर्य टीका पृ–4
23. किं पुनस्तत्वम् सतश्च सदभावः, असतश्चाऽसदभावः। न्यायभाष्य सूत्र।
24. "न च स्मृतिः प्रमा"। न्याय वार्तिका तात्पर्य टीका, 11.1, पृ–20
25. न्याय कुसुमान्जलि, 4.1
26. 'अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धि'–जयन्तकृत न्यायमंजरी, चौरम्भा,1936,पृ–12
27. वही, पृ–22
28. Nayaya theory of knowledge] P.21
29. यथार्थानुभवः प्रमा–तर्कभाषा, पृ–14
30. यत्रयदास्ति तत्रतह्स्यानुभवो प्रमा तद्वत तद्प्रकारकानुभवोवा–गंगेशोपाध्याय विरचितः तत्वचिंतामणि, प्रामाण्यवादान्तः प्रथम खण्ड, मिथिला विधापीठ, 1957 पृ–217
31. डॉ0 नंदकिशोर शर्मा–भारतीय दार्शनिक समस्यायें, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, पृ–53
32. सांख्यसूत्र–1.87
33. सांख्यतत्व कौमुदी, सांख्यकारिका 4 पर आधारित
34. डॉ0 नीलिमा सिन्हा–भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 2005, पृ–27
35. वही
36. डॉ. नीलिमा सिन्हा, भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, पृ–29
37. सांख्यदर्शनम्, 1/87

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

38. योगभाष्य–1.7
39. स्वामी श्री गुरूशरणानंद–खण्डनखण्डखाध–प्रमापक्ष, डॉ0 हरिश्चंद्रमणि त्रिपाठी, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997, पृ–59
40. स्वामी श्री गुरूशरणानंद–खण्डनखण्डखाध–प्रमापक्ष, डॉ0 हरिश्चंद्रमणि त्रिपाठी, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997, पृ–66
41. वही पृ–67
42. श्लोकवार्तिक, 2/80
43. डॉ. नीलिमा सिन्हा, भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, पृ–31
44. शास्त्रदीपिका, चौखम्भा, पृ–45
45. डॉ0 नीलिमा सिन्हा–भारतीय ज्ञानमीमांसा, पृ–31
46. डॉ0 नंदकिशोर शर्मा–भारतीय दार्शनिक समस्यायें, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर 1997, पृ–53
47. डॉ0 नीलिमा सिन्हा, भारतीय ज्ञानमीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, 2005, पृ–32
48. स्वामी श्री गुरूशरणानंद–खण्डनखण्डखाध–प्रमापक्ष, डॉ0 हरिश्चंद्रमणि त्रिपाठी, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997, पृ–61
49. वही पृ–63
50. डॉ0 नीलिमा सिन्हा–भारतीय ज्ञानमीमांसा, पृ–32
51. धर्मराजध्वरीन्द्र, हिन्दी वेदांत परिभाषा, चौखम्भा, 1963 पृ–8
52. वही।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - II

प्रमाण के भेद

भारतीय दर्शन में प्रमाणों के स्परूप की विवेचना को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत विवेच्य विषय से संबंधित बहुत से ऐसे पहलू हैं जिनकी विवेचना किये बगैर उक्त विषय पर विचार करना उचित प्रतीत नहीं होता है, पर विषय वस्तु का अधिक विस्तार न हो और संक्षेप में ही सही लेकिन महत्वपूर्ण पहलुओं का सहजभाव से समावेश भी हो जाये इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत विषय की विवेचना करने से पूर्व सर्वप्रथम प्रमाण किसे कहते हैं? व भारतीय दार्शनिक परंपरायें प्रमाण की कौन–कौन सी व्यवस्थायें अपनाती है का वर्णन करना भी आवश्यक है। भारतीय ज्ञान मीमांसा का क्रमिक विकास हुआ है। इस विकास क्रम में उत्तरवर्ती तथ्य पूर्व वर्ती तथ्यों के माध्यम से ही जाने ज सके हैं। अतः प्रमाणों का स्वरूप जानने के लिए प्रमाण का स्वरूप जानना परम आवश्यक है।

1. प्रमाण का स्वरूप

भारतीय दर्शन में प्रमा के जनक को प्रमाण कहा जाता है। इस अर्थ में प्रमाण प्रमा का उत्पादक है अर्थात् इस अर्थ के अनुकूल तो हम यह भी कह सकते हैं कि प्रमाण के अभाव में प्रमा की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। प्रमाण शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु और ल्युट प्रत्यय के योग से बना है। ल्युट प्रत्यय का अर्थ साधन या करण है और 'प्र' का अर्थ है ज्ञान। इस प्रकार प्रमाण का अर्थ है प्रमा या यथार्थ ज्ञान का साधन। यहाँ साधन की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है–1.'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' अर्थात जिस साधन के द्वारा उपलब्धि (ज्ञान) प्राप्त हो वही प्रमाण है और 2.'प्रमा करणं प्रमाणम्' अर्थात प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। अतः प्रमाण शब्द करण अर्थ का वाचक है।[1] इसलिए करण को प्रमाण का लक्षण स्वीकार करते हुए प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। सामान्यतः भी प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं। यानि वह माध्यम जिसके द्वारा सत्य या यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है, प्रमाण कहलाता है। परंतु विशेष तौर पर प्रमा के करण को प्रमाण कहा गया है। (प्रमायः करणम् प्रमाणम्)। पर यहाँ प्रश्न है कि 'करण ' से आखिर तात्पर्य क्या है, करण कहते किसे हैं? वस्तुतः करण की अवधारणा को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इतनी भर तो समानता प्रायः विचारकों में है किं करण किसी भी प्रमा का साधारण कारण न होकर एक असाधारण या विशिष्ट कारण है। वस्तुतः प्रमा रूपी परिणाम को उत्पन्न करने में कई कारण सम्मिलित होते हैं परंतु जिसकी क्रिया या प्रभाव से विशेष रूप से प्रमा रूपी परिणाम उत्पन्न होता है उसे ही प्रमा का करण या प्रमाण माना जाता है। परंतु इसी बात को लेकर मतभेद हो जाता है कि विशिष्ट रूप से परिणाम उत्पन्न करने वाला किसे मानेगें। वस्तुतः करण की अवधारणा में ही मतभेद है।

प्राचीन न्याय के अनुसार "व्यापारवदं असाधारण कारणम् करणम्" अर्थात् किसी प्रमा के उस असाधारण कारण को जिसके व्यापार या क्रिया से उसकी (प्रमा की) प्राप्ति होती है, करण कहा जाता है। परंतु नव्य न्याय के अनुसार "फलयोगव्यवच्छिन्न कारणम् करणम्" अर्थात् जिस कारण से सीधे या साक्षात रूप से फल (प्रमा) की प्राप्ति होती है वह करण है। उदाहरण के लिए यदि प्रश्न हो कि मिट्टी के बर्तन का करण क्या है, तो प्राचीन न्याय के अनुसार कुंभकार का चक्र बर्तन का करण' है, पर नव्य न्याय के अनुसार चक्र नहीं बल्कि चक्र की गति करण है। यहाँ हम देख सकते हैं कि बर्तन के कारण कई हैं–कुंभकार, उसका चक्र, चक्र की गति, आदि पर करण एक विशिष्ट या असाधारण कारण है। यह विशिष्ट कारण प्राचीन न्याय के अनुसार चक्र है, चक्र की गति नहीं, चूंकि चक्र की गति तो चक्र का ही व्यापार है अर्थात् उसी की क्रिया है। चक्र के व्यापार से ही बर्तन की उत्पत्ति होती है, इसलिए बर्तन का करण वही है पर नव्य न्याय के अनुसार चूंकि बर्तन चक्र की गति का सीधा या साक्षात् परिणाम है, इसलिए बर्तन का करण वही है, चक्र नहीं। पाणिनी करण को "साधकतमं करणम्" कहकर परिभाषित करते हैं जिससे भी नव्य न्याय मत ही सम्पुष्ट होता प्रतीत होता है। फ़ल के साधक के रूप में जो सबसे निकट हो, वही करण है–शायद यही पाणिनि का तात्पर्य है और नव्य न्याय मत का भी यही तात्पर्य है।

यदि प्रमा के संदर्भ में ही उसके करण को पहचानने के लिए हम उदाहरण लें तो पायेगें कि प्रत्यक्ष–प्रमा का प्राचीन न्याय के अनुसार संबंधित इन्द्रिय ही करण है जबकि नव्य न्याय के अनुसार इन्द्रिय–सन्निकर्ष। प्राचीन न्याय का तर्क है कि यद्यपि यह सत्य है कि इन्द्रिय–वस्तु सन्निकर्ष के तुरंत पश्चात् ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, पर यह सन्निकर्ष तो खुद संबंधित विशिष्ट–ज्ञानेन्द्रिय का व्यापार है, इसलिए करण ज्ञानेन्द्रिय ही है, सन्निकर्ष नहीं पर नव्य न्याय का तर्क है कि चूंकि प्रत्यक्ष–ज्ञान सन्निकर्ष का तत्काल परिणाम है, इसलिए करण वही है, संबंधित ज्ञानेन्द्रिय नहीं। इस प्रकार प्राचीन न्याय वैशेषिक मत व्याप्ति–ज्ञान को अनुमान का करण मानता हुआ प्रतीत होता है, पर नव्य न्याय व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार किसी विशेष प्रमा का करण सचमुच क्या है, इस बात को लेकर मतभेद है। पर सभी के अनुसार इतना तो तय है कि किसी प्रमा को उत्पन्न करने के पीछे जो विशिष्ट कारण होता है वही उसका करण है और वह करण ही उस प्रमा का प्रमाण कहलाता है। इसलिए सामान्य तौर पर कह सकते हैं कि प्रमाण प्रमा को उत्पन्न करने वाला विशिष्ट (अथवा असाधारण) साधन या माध्यम है और 'विशिष्ट' या असाधारण से यहाँ तात्पर्य किसी भी प्रमा के पीछे काम करने वाले अनेकों कारणों में से उस विशेष कारण से है जिसका प्रमा को उत्पन्न करने में एक खास योगदान होता है। भारतीय दर्शन में प्रमाण के स्वरूप को निम्नांकित बिन्दुओं द्वारा जाना–समझा जा सकता है।

(a) प्रमा की उपलब्धि का हेतु ही प्रमाण है–

न्याय दर्शन का मानना है कि प्रमाण–मीमांसा में प्रमाता और प्रमेय तो चरितार्थ हैं ही, अचरितार्थ तो प्रमाण है। अतः प्रमाण को ही प्रमा की उपलब्धि का साधन मानना चाहिए। प्रमाता और प्रमेय का कार्य प्रमाण को क्रियान्वित करना होता है। और जब हम प्रमाण की चर्चा कर रहे हैं तो प्रमाता और प्रमेय तो अपना कर्तव्य पूरा कर चुका है, मात्र प्रमाण ने अपना कर्तव्य पूरा नहीं किया है। इसलिए प्रमाण को अचरितार्थ कहा गया है। प्रमाण का कर्तव्य पूर्ण तब हो जाता है जब प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए वही प्रमा की उत्पत्ति का हेतु है। वात्स्यायन से लेकर वाचस्पति तक प्रमा की प्राप्ति के क्रम में प्रमाता और प्रमेय को चरितार्थ कहा गया है, और प्रमाण को अचरितार्थ। जब प्रमा की प्राप्ति हो जाती है तब प्रमाण अपना कर्तव्य पूरा करता है। जब प्रमा की प्राप्ति हो जाती है तभी उस प्रमा का करण जो प्रमाण है, उस प्रमाण को सिद्ध प्रमाण कहा जा सकता है।

(b) साधकतम करण ही प्रमाण है–

मीमांसकों के अनुसार करण–विशेष ही प्रमाण है। लेकिन करण को मीमांसक साधकतम् कारण के रूप में परिभाषित करते हैं। जब तक साध्य की सिद्धि नहीं हुई है तभी तक करण को साधकतम् कहा जा सकता है। जिस भाँति कटे वृक्ष के प्रसंग में परशु का साधकतमत्व नहीं होता है, उसी तरह साध्य के सिद्ध हो जाने की स्थिति में करण जाति जो कुल्हाड़ी है उस कुल्हाड़ी को साधकतम नहीं कहा जा सकता है। जिस प्रकार परशु की विषयता से अवच्छिन्न परशु जब व्यापार करते हुए लकड़ी को काटता है तभी उसे छेदन का साधकतम करण कहा जाता है, उसी प्रकार प्रमिति के संदर्भ में व्यापार कर्ता इन्द्रिय ही प्रमाण कहलाती है। करण मात्र होने से उसे प्रमाण नहीं माना जाता है। प्रमाण कहलाने के लिए करण में एक और विशेषता होनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहिए और यह विशिष्टता करण के व्याप्रियमाण होने में निहित है। अर्थात् व्यापार करता हुआ करण ही प्रमाण कहलाने योग्य है। इसी अर्थ में 'करण विशेष' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(c) जो अर्थ को प्रकाशित करे वही प्रमाण है–

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने आकार को प्रमाण कहा है। जबकि धर्मोत्तर के अनुसार जिस विषय के आधार पर अर्थ के सदृश ज्ञान का उदय होता है, वह प्रमाण कहलाता है। सादृश्य की स्थापना स्वरूप के आधार पर होती है। जैसे–नील से नीलसदृश ज्ञान की उत्पत्ति होती है। वह सादृश्य या स्वरूप आकार कहलाता है। सौत्रान्तिकों के अनुसार जो अर्थ को व्यवस्थापित करे वही प्रमाण कहा जाता है। वह सारूप्य या आकार जिससे अर्थ को व्यवस्थापित किया जाता है, वह अर्थ–सारूप्य अर्थ–प्रतीति का प्रमाण है। स्वरूप के बल पर ही अर्थ–प्रतीति सिद्ध होता है। इसलिए अर्थ को व्यवस्थापित करने का हेतु होने से अर्थाकार को प्रमाण कहा जाता है। वैभाषिकों अनुसार अनाकर–विज्ञान का वह सामर्थ्य जिससे कि वह स्वयं को या दूसरे को प्रकाशित करता है प्रमाण कहलाता है। उदयन के अनुसार जिसका व्यापार अर्थ को प्रकाशित करता है वही प्रमाण कहलाता है। अर्थ का प्रकाशन चैतन्यरूप होता है, और जो उस चैतन्यरूप की चेतना प्राप्त करता है प्रमाण कहलाता है। चूंकि इन्द्रिय जड़रूप होता है इसलिए जड़रूप इन्द्रिय को चैतन्यरूप प्रकाशन का करण नहीं माना जा सकता है! ज्ञान के अतिरिक्त कोई चेतन नहीं कहा जा सकता है। अर्थ को प्रकाशित करना चेतना का व्यापार है। अतः चेतनता प्रमाण है।

(d) स्मृति का हेतु प्रमाण नहीं होता है–

उदयन के अनुसार स्मृति के हेतु को प्रमाण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि स्मृति अनुभव नहीं होता है। स्मृति के अनुभवत्व के आधार पर स्मृति के हेतु को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। वाचस्पति कहते हैं कि स्मृति का हेतु उपलब्धि हेतु नहीं है। वाचस्पति के अनुसार प्रमा के साधन को ही प्रमाण कहा जा सकता है और जो प्रमा नहीं है उसके हेतु को प्रमाण नहीं मानाना चाहिए। वाचस्पति कहते हैं कि शब्द और अर्थ का संबंध एक लोकाधीन अवधारणा है। लोक संस्कार मात्र से जन्मा हुआ जो स्मृति है, उस स्मृति से जन्य जो अर्थ का अव्यभिचारी ज्ञान है उस ज्ञान को प्रमा कहते हैं, न कि स्मृति को। इसलिए प्रमा के हेतु को प्रमाण कहा जाता है न कि स्मृति के हेतु को।

सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि स्मृति और अनुभव दोनों का विषय समान होता है। उदाहरणस्वरूप अभी हम उस आम का स्मरण कर रहे हैं जिसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमने अपने आँगन में बैठकर कभी देखा था तो इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि यहाँ पर स्मृति और अनुभव दोनों का विषय समान होता है तो पुनः अनुभव को नैयायिक यथार्थ क्यों कहते हैं और स्मृति को क्यों नही? उदयन इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि अनुभव काल में तो अर्थ तदवस्थ होता है परंतु स्मृति में अर्थ तदवस्थ नहीं होता है इसलिए समान विषयत्व होते हुए भी अनुभव यथार्थ और स्मृति अयथार्थ होता है।

(e) अतिशय कारण ही प्रमाण होता है–

नैयायिकों के अनुसार प्रमा के लिए प्रमाता और प्रमेय प्रमाण की अपेक्षा करते हैं, और अपेक्षमाण प्रमाता तथा प्रमेय से प्रमाण का जन्मा होता है। इसी मान्यता के अनुसार प्रमाता और प्रमेय का अस्तित्व प्रमाण से पहले होना चाहिए। परंतु प्रमाण के बिना प्रमाता और प्रमेय का भाव सिद्ध नहीं होता है और इस प्रकार प्रमाता और प्रमेय को प्रमाण का पूर्वभावी नहीं माना जा सकता है। नैयायिकों के अनुसार जिसके होने से प्रमा रूप कार्य का संपादन होता, और जिसके न होने से प्रमाता तथा प्रमेय प्रमा रूप कार्य का संपादन नहीं करता है साधकतम कहलाता है। इसी साधकतम को प्रमाण की संज्ञा दी गई है। उद्योतकर कहते हैं कि प्रमाता और प्रमेय की अनुपस्थिति में प्रमा नहीं होता है लेकिन इन दोनों की उपस्थिति में तो होता है। परंतु दोनों की उपस्थिति में प्रमा का होना अनिवार्य नहीं है। प्रमाण के संदर्भ में विचार करें तो पाते हैं कि प्रमाण के होने में प्रमा का होना अवश्यंभावी है यही साधकतम का अर्थ है और यह साधकतम प्रमाण कहलाता है।

उद्योतकर के अनुसार जिससे युक्त होकर प्रमा की प्राप्ति होती है वह साधकतम कहलाता है। साधकतम अर्थात् प्रमाण के होने में प्रमा की प्राप्ति होती है न होने में प्रमा की प्राप्ति नहीं होती है। जिसका अभाव होने से प्रमाता और प्रमेय प्रमा को जन्म नहीं देते हैं, वह साधकतम कहलाता है। द्रव्य के उत्पादन के क्रम में जो ज्ञानात्मक स्थिति अंतिम संयोग की होती है, वही ज्ञानात्मक स्थिति प्रमाण की होती है। अनेक संयोगों के पश्चात् द्रव्य का उत्पादन होता है। सभी को अतिशय या साधकतम नहीं कहा जा सकता है वह अन्त्य संयोग जिसके तत्काल बाद द्रव्य का उत्पादन होता है अतिशय या साधकतम कहलाता है। उद्योतकर असाधारण–कारणता को अतिशय का एक लक्षण मानकर साधकतमत्व को परिभाषित करते हैं। सभी कार्यों के कुछ साधारण कारण होते हैं, और कोई न कोई उसका असाधारण कारण। असाधारण कारण को ही करण कहा जाता है। प्रतिपत्ति का भी कुछ साधारण कारण और कोई न कोई असाधारण कारण होता है। प्रतिपत्ति के असाधारण कारण को साधकतम या अतिशय कहा जाता है।

. Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(f) प्रधान कारण को प्रमाण कहते हैं–

प्रमाता प्रत्यक्षादि से उत्पन्न ज्ञानों का साधारण कारण है। प्रमता एक ऐसा कारण है जो प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चारों से उत्पन्न ज्ञानों में समान रूप से विद्यमान रहता है। इसीलिए प्रमाता को साधारण कारण कहा गया है। सभी ज्ञानों के प्रमेय भी सभी पुरुषों अर्थात् ज्ञाताओं के लिए समान हो सकते हैं। अतः उस को साधारणत्व कहा जा सकता है। अतः प्रमेय भी साधारण कारण है। प्रमाता प्रमेय और प्रमाण में प्रमाण ही असाधारण कारण है। सभी ज्ञानों का प्रमाता और प्रमेय एक हो सकता है, परंतु प्रमाण नहीं, प्रमाण प्रत्येक स्थिति में भिन्न–भिन्न होता है। इसलिए असाधारण कारण होने के फलस्वरूप प्रमाण को प्रधान कहा गया है और इसी प्रधानता के फलस्वरूप उसे साधकतम के नाम से पुकारा जाता है।

(g) प्रमाण असमवायि कारण होता है–

उद्योतकर के अनुसार संयोग को प्रमा के कारण के रूप में स्थापित किया गया है। चूँकि न्यायशास्त्र में तीन भिन्न–भिन्न प्रकार के कारण हैं, इसलिए प्रश्न उठता है कि संयोग को इनमें से किस प्रकार का कारण माना जाय तथा यह संयोग किनके बीच होता है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए वाचस्पति कहते हैं कि संयोग आत्मा और मन के बीच होता है तथा यह एक असमवायि कारण के रूप में पाया जाता है। इस संयोग को प्रमाता या प्रमेय के आधार पर भिन्न नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रमाता और प्रमेय संयोग की भाँति सभी प्रमा–जातियों में समान रूप से विद्यमान हो सकते हैं। असाधारण कारण ही यथा योग्य संयोग को विशेषित करने में सक्षम होता है। उदयन कहते हैं कि प्रमा–जाति चार प्रकार की होती है यथा प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द बोध। इन प्रमाओं में भेद करना आवश्यक है। उदयन के अनुसार इन प्रमा–जातियों में भेद करने के साधन के रूप में प्रमिति के संयोग रूप असमवायि कारण को विशेषित (इंगित) करने वाला ही प्रमाण कहलाता है।

2. प्रमाणों के प्रकार

प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय और विनियोग की व्याख्या करना प्रमाण मीमांसकों का प्रमुख कार्य रहा है। भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों में प्रमाणों का स्वरूप और प्रमाणों की संख्या भिन्न–भिन्न है। प्रमाण से तात्पर्य सही ज्ञान और उसके साधन से है। भारतीय दर्शन में एक से लेकर पंद्रह प्रमाणों की चर्चा प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वैशेषिक दर्शन और बौद्ध दर्शन अपने–अपने तरीके से प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक दो ही प्रमाण मानते हैं। जैन दर्शन भी सभी प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष की कोटि में ही समाहित कर देता है। सांख्य व योग दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वचन नामक तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। न्याय दर्शन प्रमाण चतुष्टयवादी है–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा में नैयायिकों के प्रमाण चतुष्टय के अतिरिक्त अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि नामक दो स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। आयुर्वेद और पौराणिक दर्शन में संभव और ऐतिह्य नामक दो अप्रचलित प्रमाणों के संदर्भ भी प्राप्त होते हैं।

> *"प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः। अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दश्च ते उभे।। न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुप मानं च केचन। अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः।। अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्य युक्तानि तानि पौराणिकाः जगुः।।"*[2]

तान्त्रिक दस प्रमाण मानते हैं जिनमें उपर्युक्त आठ प्रमाणों के साथ चेष्टा एवं परिशेष भी जुड़ जाता है। पार्थसारथि मिश्र ने न्याय रत्नाकर में तथा न्याय सिद्धिकार ने प्रकरण पंचिका की व्याख्या में दस प्रमाणों की परीक्षा की है। दस प्रमाणों में ये दार्शनिक प्रसिद्ध आठ प्रमाणों[3] के अतिरिक्त नवें को लोकप्रमाण या लोकप्रसिद्धि तथा दसवें को आर्ष या प्रातिभ ज्ञान बताते हैं। इतना ही नहीं परवर्ती जैन दार्शनिकों ने जिनमें अकलंक और वादिदेव सूरि आदि प्रमुख हैं इस बात को बड़े ही आग्रहपूर्वक प्रतिस्थापित किया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम के साथ स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क को भी प्रमाण मानना चाहिए। अतः स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को भी जोड़ दिया जाये तो कुल पंद्रह प्रमाणों की चर्चा भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों ने की है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक संप्रदाय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, एतिह्य, लोकज्ञान, प्रातिभ या आर्ष, चेष्टा, परिशेष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। वैद्य ज्ञान की प्राप्ति के इन विविध स्रोतों (प्रमाणों) का वर्णन इस प्रकार है–

(i) प्रत्यक्ष प्रमाण

'प्रत्यक्ष' शब्द दो पदों की संधि है–प्रति+अक्ष। प्रति का अर्थ 'समक्ष' और 'अक्ष' का अर्थ है चक्षु या 'चक्षुर्न्द्रिय' (आंख)। यह प्रत्यक्ष का संकुचित अर्थ है कि आंख के सम्मुख जो उपस्थित है वह प्रत्यक्ष है। व्यापक अर्थ में 'प्रत्यक्ष' का अर्थ वह ज्ञान है जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हो। वैशेषिक सूत्र के प्रशस्तपादभाष्य में 'अक्ष' का अर्थ घ्राण, जिव्हा, चक्षु, त्वचा, कर्ण और मनस–इन छः इन्द्रियों को बतलाया गया है। इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार शब्दिक विवेचन की दृष्टि से प्रत्यक्ष 'इन्द्रियजन्य ज्ञान' है। किन्तु प्रत्यक्ष की इस परिभाषा को प्रत्येक भरतीय दार्शनिक ने स्वीकार नहीं किया है, कुछ दार्शनिकों ने 'अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष' अथवा 'इन्द्रिय के अभाव में भी प्रत्यक्ष' की चर्चा की है। अतः 'प्रत्यक्ष' का वस्त्वर्थ इसके शब्दिक अर्थ से अधिक व्यापक है। प्रत्यक्ष क्या है? इस प्रश्न पर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं है।

(a) कल्पना रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है–

विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु ने प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए प्रत्यक्ष को 'ततार्थद् विज्ञानम्' कहा है। नैयायिक उद्योतकर ने 'ततार्थद् विज्ञानम्'[4] की व्याख्या करते हुए कहा है कि वसुबंधु के मत में प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो उसी वस्तु के द्वारा उत्पन्न किया गया है जिस वस्तु के संदर्भ में इस ज्ञान को 'प्रत्यक्ष ज्ञान' की संज्ञा दी जा रही है।[5] उद्योतकर वसुबंधु के इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि वसुबंधु के इस कथन का अर्थ यह होगा कि प्रत्यक्ष में उस ज्ञान को उस विषय के ज्ञान की संज्ञा दी जाती है जिस विषय के द्वारा यह ज्ञान उत्पन्न नहीं किया जाता, उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं कि 'यह घट है' तो ज्ञान 'घट' का नहीं होकर 'घट के गुणों' का होता है जिसे 'घट ज्ञान' की संज्ञा दे दी जाती है।

बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर ने यद्यपि न्याबिंदु की टीका करते हुए प्रत्यक्ष को साक्षात् ज्ञान के रूप में चिन्हित किया है[6] किन्तु बौद्ध न्याय के आधार स्तंभ समझे जाने वाले बसुबंधु, दिग्नांग् एवं आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष को 'साक्षात् ज्ञान' अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान के रूप में परिभाषित करने में कोई रूचि प्रकट नहीं की। बौद्ध न्याय के प्रणेता आचार्य दिग्नांग प्रत्यक्ष का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष कल्पनारहित होता है जिसमें वस्तु के नाम, जाति आदि की योजना नहीं होती।[7] बौद्ध मत के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भेद यही है कि प्रत्यक्ष कल्पनारहित होता है जबकि अनुमान कल्पनायुक्त होता है। दिग्नांग् प्रदत्त्त प्रत्यक्ष के इस विवरण में आचार्य धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष के एक अन्य लक्षण 'अभ्रान्त' को भी समाविष्ट करते हैं।

धर्मकीर्ति के अनुसार कल्पनारहित अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष है।[8] स्पष्टतः धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष के दो लक्षण बतलाते हैं–क–प्रत्यक्ष कल्पनारहित होता है, ख–प्रत्यक्ष अभ्रान्त होता है। लेकिन अभ्रान्त से धर्मकीर्ति का तात्पर्य क्या है? न्यायबिन्दु के टीकार विनितदेव ने 'अभ्रान्त' पद का अर्थ 'अविसंवाद' पद से व्यक्त करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष को अविसंवादी होना चाहिए। इस संदर्भ में प्रश्न उठता है कि 'अविसवांदी' से बौद्धों का क्या तात्पर्य है?[9] सामान्यतः अविसंवादी पद के दो अर्थ व्यवहार में लाए जाते हैं–(क) जो ज्ञान परवर्ती ज्ञान द्वारा खंडित अथवा बाधित न हो वह ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अविसंवादी है। (ख) जो ज्ञान वस्तु से सारूप्य अथवा संवाद रखे वह ज्ञान अविसंवादी है। न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति के 'अभ्रान्त' पद की एक अन्य व्याख्या भी मिलती है। इस व्याख्या के अनुसार विभ्रमरहित ज्ञान प्रत्यक्ष है।

(b) इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है–

वैशेषिक मत प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के रूप में स्वीकार करता है।[10] इस मत के अनुसार चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त मन भी एक ज्ञानेन्द्रिय है। अतः ज्ञानेन्द्रियाँ कुल छः हैं[11] इन छः ज्ञानेन्द्रियें के द्वारा विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। भाट्ट मीमांसा के प्रणेता कुमारिल भट्ट ने भी प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए कहा है कि प्रयत्क्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रियों के विषय के संपर्क में आने से उत्पन्न होता है।[12] महर्षि गौतम के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जता है।[13] वात्स्यायन ने गौतम के इस सूत्र पर भाष्य करते हुए कहा है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है।[14] किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए मात्र इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष ही पर्याप्त नहीं। जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होता है तभी प्रत्यक्ष उत्पन्न ज्ञान होता है।[15] वस्तुतः वात्स्यायन के मतानुसर प्रयत्क्ष एवं प्रत्यक्षेत्तर अनुमानादि समस्त ज्ञान में आत्मा और मन का संयोग तो सदैव अनिवार्य होता है अतएव आत्मा एवं मन का संयोग तो ज्ञान का सामान्य कारण है किन्तु प्रत्यक्ष में इस सामान्य कारण से एक विशिष्ट करण भी संयुक्त होता है। वह विशिष्ट करण 'इन्द्रिय और अर्थ का संयोग' है। वात्स्यायन के मतानुसार इसी विशिष्ट अर्थ में प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान है वरना सामान्य अर्थ में आत्मा के मन से संयोग, मन के इन्द्रिय से संयोग तथा इन्द्रिय के विषय से सन्निकर्ष के अनन्तर ही प्रत्यक्ष प्रमा उत्पन्न होती है।

(c) साक्षात् ज्ञान ही प्रत्यक्ष है–

नव्य–नैयायिक, वेदांती तथा प्रभाकर मीमांसक प्रत्यक्ष को साक्षात् ज्ञान के पदों में ही परिभाषित करते हैं। नव्य–न्याय के प्रणेता गंगेशोपाध्याय के अनुसार प्रत्यक्ष का अर्थ है, विषय की साक्षात् प्रतीति।'[16] नव्य–वेदांती भी प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों को अनावश्यक मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को तो इन्द्रिय नहीं है पर उसे प्रत्यक्ष होता है। पुनः वेदांत मत के अनुसार अन्तः प्रत्यक्ष भी बिना इन्द्रिय के ही होता है परंतु यह प्रत्यक्ष ही है। यहाँ ज्ञातव्य है कि अनेक वेदांती मन को इन्द्रिय की कोटि में नहीं रखते। वेदांत मत के अनुसार जो ज्ञान बिना किसी करण अथवा माध्यम के हो उसे प्रयत्क्ष कहते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रभाकर मीमांसकों के मत में भी प्रत्यक्ष को 'साक्षात ज्ञान' के पद में ही व्यक्त किया गया है।[17] मीमांसा सूत्र 1/1/4 में 'संत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणाम् बुद्धिजन्य तत् प्रत्यक्षम् ' की व्याख्या करते हुए भवदास ने कहा कि पुरुष की इन्द्रिय तथा वस्तु के संपर्क से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। श्लोकवार्त्तिक में प्रभाकर ने प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान के रूप में परिभाषित करते हुए प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को भी आवश्यक माना है।

जैन दर्शन में भी प्रत्यक्ष को साक्षात् ज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाता है। वे लोग भी, जो प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं, प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान की कोटि में ही रखते हैं। किन्तु जैन न्याय की प्राचीन परंपरा इन्द्रियजन्य ज्ञान को अपरोक्ष अथवा असाक्षात् ज्ञान की कोटि में रखती है। जैन परंपरा में ज्ञान के दो भेद बतलााए गए हैं–परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान। प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान सीधा आत्मा से उत्पन्न होने वला ज्ञान है। मन तथा इन्द्रियादि से प्राप्त ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहा जाता हैं। आचार्य उमास्वाति ने मति, श्रुति, अवधि, मनःपयर्य और केवल–पाँच प्रकार के ज्ञान बतलाए। आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो भेद किए–प्रत्यक्ष और परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में मति और श्रुत को परोक्ष ज्ञान तथा अवधि, मनःपयर्य और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है।[18] परवर्ती काल में अकलंकदेव ने जैन न्याय की इस परंपरा में तनिक परिवर्तन करते हुए प्रत्यक्ष ज्ञान के पुनः दो भेद किए–(क) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (ख) मुख्य प्रत्यक्ष। अकलंकदेव सांव्यवहारिक दृष्टि से इन्द्रिय ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान की कोटि में रखते हैं।

(ii) अनुमान प्रमाण

'अनु' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय् जुड़ने से निष्पन्न 'अनुमान' शब्द का सामान्य अर्थ है–'पश्चात् ज्ञान'। 'व्याप्ति ज्ञान' और 'पक्ष–धर्मता–ज्ञान' के अनन्तर यह ज्ञान होता है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञात सत्यों के द्वारा किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। 'पर्वतो अग्निमान धूमातू' जब हम ऐसा कहते हैं तो यहाँ हम पहले से ही यह जानते हैं कि जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि रहती है। इसके साथ ही हम यह भी देख रहे हैं कि पहाड़ पर धुआँ उठ रहा है। जब 'अनुमीयत इति अनुमानम्' अथवा 'अनुमितिः अनुमानम्' ऐसा विग्रह किया जाता है तब अनुमान शब्द अनुमिति प्रमा का बोधक होता है और जब 'अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्' ऐसा विग्रह किया जाता है तो यह अनुमिति प्रमा के करण का वाचक बन जाता है। वैसे सामान्यतः करण अर्थ में ही अनुमान शब्द का अधिक प्रयोग होता है। यों तो सामान्यतया एक ज्ञान पर आश्रित अन्य ज्ञान अर्थात् किसी जानी हुई बात से दूसरी किसी अनजानी बात का पता लगाना ही अनुमान है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चार्वाक दर्शन को छोड़कर लगभग प्रत्येक दार्शनिक संप्रदाय ने अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है, लेकिन अनुमान के स्वरूप विश्लेषण के संबंध में भिन्न–भिन्न दर्शनों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं।

(a) हेतु के ज्ञान से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान ही अनुमान है–

महर्षि कणाद के अनुसार कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी, एवं समवादी आदि के आधार पर संबद्ध 'लिंगी' का जो ज्ञान होता है, उसको लैंगिक यानी अनुमान कहते हैं। परोक्ष अर्थ का बोध कराने वाले (गमयति) को लिंग कहते हैं। प्रशस्तपाद का भी यही कथन है कि लिंग के दर्शन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान लैंगिक कहलाता है।[19] लिंग का ज्ञान प्रसिद्धिपूर्वक होता है।[20] प्रसिद्धि शब्द का प्रयोग वैशेषिक दर्शन में व्याप्ति के लिए किया गया है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ नियमित संबंध निर्धारित करना ही प्रसिद्धि या व्याप्ति है। नियमितता के निर्धारण के लिए कणाद ने पाँच प्रकार के हेतुओं का उल्लेख किया है। उनमें से किसी एक को लिंग बनाकर अनुमान किया जाता है। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं–

कारण–कार्य : पुत्र को देख कर उसके पिता का अनुमान।

कार्य–कारण : बाढ़ को देखकर वर्षा का अनुमान।

संयोगः शरीर को देखकर त्वचा का अनुमान।

विरोध : साँप को देखकर नेवले का अनुमान।

समवाय : उष्ण जल को देखकर उष्णत्व के समवायी अग्नि का अनुमान।

उदयन और श्रीधर ने दृष्ट (प्रत्यक्ष) अनुमिति तथा स्मृति द्वारा ज्ञात हेतुओं से भी अनुमान की सिद्धि बताई है।[21] शंकरमिश्र ने स्मृति के बदले 'श्रुत' शब्द को अपनाया है।[22] संक्षेप में वैशेषिक दर्शन के अनुसार हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला सम्यक् ज्ञान ही अनुमान है, ऐसा लक्षण करने पर संशय, विपर्यय और स्मृति का अनुमान से व्यावर्त्तन हो जाता है, क्योंकि ये यथार्थ रूप से अपने विषयों का बोध न कराने के कारण 'सम्यक् ज्ञान' नहीं हैं। शिवादित्य का मत है कि जो अनुमिति, प्रमा के अयोग से रहित हो वही अनुमान है।[23]

(b) लिंग को देखकर होने वाला ज्ञान अनुमान है–

गौतम ने 'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्' के रूप में अनुमान का लक्षण किया है। लिंगी के साथ लिंग का संबध ग्रहण हो जाने के उपरांत लिंग–गदर्शन से व्याप्ति का स्मरण होता है। व्याप्तिं–स्मरण के बाद लिंगज्ञान होता है और लिंग–ज्ञान से परोक्ष वस्तु की जो जानकारी होती है, उसी को अनुमान कहते हैं।[24] केशव मिश्र के अनुसार जिससे अनुमिति की जाती है, वह अनुमान है। लिंगपरामर्श से अनुमिति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की जाती है, अतः लिंगपरामर्श अनुमान है। संक्षेप में पर्वत आदि में धूम आदि का ज्ञान ही लिंगपरामर्श है, क्योंकि वह अनुमिति के प्रतिकरण है। व्याप्ति के बल से अर्थ का बोध कराने वाला लिंग कहलाता है। जैसे, धूम अग्नि का लिंग है जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती, इस प्रकार के साहचर्यनियम को व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति के निश्चय के अनन्तर ही धूम अग्नि का बोध कराता है अतः व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने के कारण धूम अग्नि का लिंग है।

सांख्यसूत्रकार कपिल के अनुसार 'प्रतिबंध दर्शन से प्रतिबद्ध का ज्ञान होना ही अनुमान है।'[25] 'प्रतिबंध' शब्द की व्याख्या करते हुए विज्ञान भिक्षु ने यह मत व्यक्त किया कि यह' व्याप्ति का ही दूसरा नाम है। अतः व्याप्ति–ज्ञान (प्रतिबंध दर्शन) से होनेवाला व्यापक (प्रतिबद्ध) का ज्ञान अनुमान[26] है। ईश्वरकृष्ण का आशय यह है कि कहीं लिंग द्वारा लिंगी का ज्ञान होता है, जैसे त्रिदण्ड को देखकर सन्यासी का और कहीं लिंगी द्वारा लिंग का जैसे कि सन्यासी को देखकर समीपस्थ त्रिदण्ड के बारे में ज्ञान कि यह दण्ड सन्यासी का है।[27] वाचस्पति मिश्र के मत में व्याप्य–व्यापक भाव और पक्ष धर्मताज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अनुमान है।[28]

पतंजलि के योगसूत्र में अनुमान का लक्षण उपलब्ध नहीं होता, किन्तु व्यास ने योगभाष्य में अनुमान की परिभाषा इस प्रकार की–'अनुमान करने योग्य वस्तु का, समान जातियों से युक्त करनेवाला तथा भिन्न जातियों से पृथक् करनेवाला जो संबध है, तद्विषयक निश्चायक वृत्ति को अनुमान् कहते हैं। वृत्तिकार के मतानुसार लिंग द्वारा लिंगी का संबधं ग्रहण करके सामान्य रूप से होने वाले निश्चय को अनुमान कहा जता है।[29]

(c) साधन द्वारा साध्य का ज्ञान होना अनुमान है–

सिद्धसेन दिवाकर द्वारा 'न्यायावतार' में निर्दिष्ट लक्षण के अनुसार' साध्य का अविनाभाववाले लिंग द्वारा जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है वह अनुमान है।[30] अकलंक के विचार में साधन द्वारा साध्य का ज्ञान ही अनुमान है।[31] उन्होनें एक दूसरी परिभाषा भी दी है, जो कि सिद्धसेन की परिभाषा से मिलती जुलती है। वह इस प्रकार है–'साध्य–अविनाभूतलिंग के द्वारा उत्पन्न होनेवाला साध्य का ज्ञान अनुमान (अभिनिबोध) है।'[32] वादिराज ने व्याप्तिनिर्णय के पश्चात् होनेवाले मान को अनुमान कहा है।[33] दिग्नांग के अनुसार 'अविनाभाव संबंध के द्वारा नान्तरीयक का दर्शन ही अनुमान है।'[34] एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव में कभी भी न रहना नान्तरीयक कहलाता है। दिग्नांग ने यह भी कहा है कि उपस्थित वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष से और अनुपस्थित का ज्ञान अनुमान से होता है। धर्मकीर्ति ने प्रमाण वार्तिक में अनुमान का साधारण लक्षण दिया और न्यायबिन्दु में स्वार्थानुमान का अलग और परार्थानुमान का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अलग।[35] प्रमाण वार्तिक के अनुसार किसी संबंधी के धर्म से, धर्मी के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान है जबकि न्यायबिन्दु में यह कहा गया है कि परार्थानुमान त्रिरूपलिंग, अन्वय, व्यतिरेक पक्षधर्मत्व संज्ञक से उदभूत शब्दात्मक ज्ञान है, और स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है तथा अनुमेयसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व संज्ञक लिंग से उद्भूत होता है। धर्मोत्तर के विचार में अनुमान का विषय कल्पित होता है। क्योंकि अनुमान एक ऐसी वस्तु का किया जाता है, जो अनुपस्थित है। जिसका साक्षात् ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसकी तो केवल कल्पना ही की जा सकती है।

(d) व्याप्ति ज्ञान के द्वारा प्राप्त ज्ञान अनुमान है–

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ज्ञाप्तिज्ञानत्व धर्म से अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है। जैसे कि 'पर्वतो अग्निमान् धूमात् 'इस उदाहरण में धूम को' अग्निव्याप्य' कहा गया है, क्योंकि धूम में अग्नि की व्याप्ति रहती है। 'यह व्याप्ति है'–इस ज्ञान में 'व्याप्तित्व धर्मप्रकार' है, अतः इस व्याप्ति ज्ञान को व्याप्तित्वप्रकारकज्ञान कहा जायेगा। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार अनुमान की प्रक्रिया में प्रथमतः पक्ष में हेतु के ज्ञान के महानस आदि में ग्रहण किया हुआ व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्धि होता है उसके उपरांत व्याप्ति के स्मरण से अनुमिति होती है। पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकती।[37]

(iii) शब्द प्रमाण

साधारणतः 'शब्द' का अर्थ एक सार्थक ध्वनि है किन्तु प्रमाण रूप में 'शब्द' का अर्थ 'आप्त वचन' अथवा 'प्रामाणिक कथन' से समझा जाता है। भारतीय परम्परा में चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिक मत के अतिरिक्त सर्वत्र 'शब्द' को प्रमाण रूप स्वीकृत किया गया है। भारतीय दर्शन की आस्तिक परम्परा में न्याय, मीमांसा तथा वेदांत मत में शब्द प्रमाण का निरूपण विस्तारपूर्वक किया गया है। यहाँ 'शब्द' का अर्थ भी तनिक विस्तृत है। 'शब्द प्रमाण' के रूप में शब्द का अर्थ 'वक्यार्थ' है। इस रूप में व्याकरण दर्शन में भी शब्द ज्ञान (वाक्यार्थादि) की विशद विवेचना देखने को मिलती है। पुनः प्रत्येक वाक्य तथा उसके निर्दिष्ट अर्थ को प्रमाण रूप स्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस रूप में प्रत्येक वाक्य 'शब्द–प्रमाण' नहीं है। शब्दान्तर से शब्द प्रमाण एक विशेष प्रकार के वाक्य से उत्पन्न ज्ञान है। अन्य प्रमाणों के समान शब्द प्रमाण के स्वरूप के विभिन्न पक्षों पर भी भारतीय दर्शन में विभिन्न मत पाये जाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(a) आप्त के उपदेश ही शब्द प्रमाण हैं–

जैन दर्शन में श्रुत ज्ञान या शाब्दी ज्ञान को आगम कहा गया और इसको पृथक् प्रमाण माना गया है। उमास्वाति ने यथार्थ के अभिधान को शब्द कहा है।[38] सिद्धसेन दिवाकर माणिक्यनंदी, देवसूरि, प्रभाचंद्र, यशोविजय आदि ने शब्द प्रमाण के लक्षण में 'आप्त' शब्द को भी समाविष्ट किया है।[39] जैनाचार्यो के अनुसार मोह, राग, द्वेष आदि शंकाओं से रहित व्यक्ति ही आप्त होता है।[40] प्रभाचंद्र तथा देवसूरि के अनुसार आगम के दो रूप हैं–(क) अलौकिक यानी तीर्थंकरों के कथन और (ख) लौकिक यानी रागद्वेषरहित व्यक्तियों के वचन। हेमन्द्र ने शब्द ज्ञान दो प्रकार का बताया है–(क) दृष्टार्थक और (ख) अदृष्टार्थक। 'दृष्टार्थक' का संबंध लोक से और 'अदृष्टार्थक' का संबंध परलोक से होता है।

शब्दप्रमाण की परिभाषा के संबंध में सांख्याचार्यों के कथन लगभग वैसे ही हैं, जैसे कि नैयायिकों के, किन्तु आप्त जैसे शब्दों की व्याख्या में कुछ अंतर है। सांख्य सूत्रकार के अनुसार 'आप्तोपदेश' शब्द है, किन्तु आप्त का अर्थ है 'आप्ति से युक्त'। आप्ति का तात्पर्य है–योग्यता और उपदेश का आशय है–यथाभूत पदार्थ का निर्दोष कथन। इस परिभाषा का विश्लेषण करते हुए उत्तरवर्ती भाष्यकारों ने कहा है कि जो व्यक्ति वस्तुओं का साक्षात् ग्रहण करके उनका यथार्थ ज्ञान करता है, वह उस विषय में आप्त कहलाता है। ऐसे व्यक्ति का उपदेश ही संदर्भगत विषय में शब्द प्रमाण माना जाता है। ईश्वरकृष्ण ने विश्वसनीय वचन को आप्त वाक्य कहा है।[41] योग मत में भी शब्द के लिए आगम शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यासभाष्य में उल्लेख मिलता है कि अपने बोध का सम्प्रेषण करेन के लिए तत्त्वज्ञानी अर्थात् यथार्थद्रष्टा आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है वह आगम प्रमाण है।[42]

(b) परोक्ष वस्तु का बोध कराने वाले शब्द प्रमाण हैं–

शाबरभाष्य में प्रमाण की चर्चा का आरंभ तो हुआ, किन्तु उसका विधिवत् विश्लेषण कुमारिल प्रभृति के ग्रंथों में उपलब्ध होता है। शबर स्वामी के अनुसार शब्द से होने वाले अप्रत्यक्ष वस्तु विषयक ज्ञान को शब्द प्रमाण कहा जाता है। कुमारिल ने भाष्यकार के कथन का आश्य बताते हुए कहा है कि "शब्द प्रमाण वह कथन है, जो शब्दों का अर्थ जानने वाले श्रोता को उस तथ्य का बोध करा देता है, जो श्रोता के प्रत्यक्षण की सीमा से बाहर होता है।"[43] पार्थसारथि ने उपर्युक्त कथन में यह भी जोड़ा कि इस प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान हो, वह नवीन होना चाहिए।[44] प्रभाकर के मतानुसार लौकिक या पौरुषेय शाब्दबोध तो अनुमान में अन्तर्भूत हो जाता है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतः अपौरूषेय वैदिक वाक्यों से जन्य ज्ञान ही शाब्दी प्रमा है। अवैदिक वाक्यों में प्रभाकर प्रामाण्याभाव मानते हैं।[45]

(c) आप्त वाक्य शब्द प्रमाण है–

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार जिस वाक्य का तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग प्रमाणान्तर से बाधित नहीं होता, वह वाक्य आगम कहलता है।[46] वेदान्तियों के मतानुसार वेदों का साक्षात्कार किया गया है, निर्माण नहीं, जबकि नैयायिकों का यह मत है कि वेदों का निर्माण ईश्वर ने किया है। न्यायसूत्रकार गौतम ने आप्तोपदेश को शब्द कहा है। भाष्यकार वात्स्यायन ने यह स्पष्ट कहा है कि जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी ही बताने वाले (अर्थात् वस्तुओं का साक्षात ज्ञान कर उनको यथार्थरूप में दूसरों को बताने वाले) पुरुष के उपदेश को शब्द कहा जाता है। वस्तुओं का साक्षात ज्ञान है आप्ति और आप्ति में जो प्रवृत्त हो वह आप्त कहलाता है। आप्तता किसी जातिविशेष पर निर्भर नहीं है। उद्योतकर ने इस संदर्भ में इतनी बात और जोड़ी कि इन्द्रियों से संबद्ध या असम्बद्ध अर्थों के प्रसंग में शब्द का प्रयोग करके जो प्रतिपत्ति (बोध) होती है, वह शब्दप्रमाण जन्य है। वाचस्पति मिश्र ने इस संबंध में कोई नई बात नहीं कही, किन्तु जयंत भट्ट ने इस बात पर प्रकाश डाला कि 'आप्त' और 'उपदेश' शब्द का प्रयोग शब्दप्रमाण की परिभाषा में क्यों अपेक्षित है? जयंत के मतानुसार 'आप्त' पद के अभाव में शब्दप्रमाण की परिभाषा 'ऐतिह्य' पर भी अतिव्याप्त हो जाती, क्योंकि उपदेश का तत्त्वं तो ऐतिह्य' में भी है। वात्स्यायन द्वारा प्रयुक्त 'उपदेष्टा' और 'चिख्व्यापयिषा' शब्द साभिप्राय हैं। इनसे यह ध्वनित होता है कि आप्त व्यक्ति का वीतराग (सम्बद्ध बात के कथन में उसका अपना कोई स्वार्थ न हो।) तथा उपदेशकुशल होना आवश्यक है। जयंत के मत में यद्यपि आप्त व्यक्ति का सर्वज्ञ होना आवश्यक नहीं है, किन्तु उसे वस्तुओं का समुचित ज्ञान तो होना ही चाहिए। जयंत के विचार में आप्तता का संबंध कुल की उच्चता से नहीं है। ऋषि, आर्य, म्लेच्छ सभी में आप्तता रह सकती है।[47]

(d) वाक्यार्थ ज्ञान ही शब्द प्रमाण है–

प्राचीन नैयायिकों के अनुसार आप्त का उपदेश ही शब्द प्रमाण कहलाता है। लेकिन भासर्वज्ञ ने कुछ भिन्नता के साथ शब्द प्रमाण का लक्षण किया है। उनके मत को स्पष्ट करते हुए न्यायसार के टीकाकर वादिदेव सूरी कहते हैं कि सम्यक् यानी संशय आदि से विलक्षण ज्ञान के चेष्टा, लिपि, अक्षर आदि समेत शब्दात्मक या अशब्दात्मक जितने साधन हैं, वे आगम यानी शब्द प्रमाण हैं।[48] जबकि गंगेश तथा उनके अनुयायियों ने आप्तता के विचार को अस्वाभाविक मानकार उसको छोड़

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिया। वे वाक्यार्थज्ञान को शब्द प्रमाण बताते हैं। वाक्यार्थज्ञान से उनका आशय है–'वाक्य के अंतर्गत पदसमूह का स्मरणात्मक ज्ञान।'[50] केशव मिश्रा और अन्नभट्ट जैसे उत्तरवर्ती नैयायिकों ने शब्द प्रमाण की परिभाषा में कुछ परिवर्तन कर दिया। उन्होनें 'उपदेश' के स्थान पर 'वाक्य' का प्रयोग कर आप्तवाक्य को शब्द प्रमाण माना है।[51]

(iv) उपमान प्रमाण

भारतीय दर्शन में न्याय, मीमांसा और वेदांत उपमान को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकृत करते हैं किन्तु अन्य मत उपमान को ज्ञान का स्वतंत्र साधन नहीं मानते। वैशेषिक मत के आचार्य प्रशस्तपाद उपमान को एक प्रकार का अनुमान कहते हैं। चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण को स्वीकार नहीं करता। जैन दर्शन उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञा में करता है। बौद्ध भी उपमान को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते।

(a) सादृश्य मूलक ज्ञान उपमान है–

वेदांत परिभाषा के अनुसार सादृश्य ज्ञान के उपकरण को उपमान कहते हैं।[52] उदाहणार्थ जिस व्यक्ति ने नगर में गौ को देख रखा हो किन्तु गवय को नहीं देखा हो, जब वन में जाकर गवय को देखता है तो उसके भीतर दो प्रकार के बोध उत्पन्न होते हैं–प्रथमतः यह कि "यह गवय गौ के समान है' (गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञान), तथा द्वितीयतः यह कि मेरी गौ इस गवय के समान है" (गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञान)। समानता के इन दो बोधों में प्रथम सादृश्य बोध कि 'यह गवय गो के समान है' के ज्ञान का करण (साधन) 'अनुमान प्रमाण' है तथा द्वितीय सादृश्य बोध कि मेरी गौ इस गवय के समान है 'उपमान का फल अथवा उपमिति' है। वेदांत परिभाषा के अनुसार गवयनिष्ठ गोसादृश्य ज्ञान को करण बना कर गोनिष्ठ गवयसादृश्यज्ञान उपमान है।[53]

शाबरभाष्य के अनुसार उपमान एक ऐसा सादृश्यमूलक ज्ञान है जिसमें बोध की वस्तु का इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता, जैसे–वन में गवय को देखकर अपनी गौ के विषय में हुआ यह सादृश्य बोध कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है'।[54] मीमांसा के दोनों संप्रदाय–भाट्ट और प्राभाकर, उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं तथा उपमान को सादृश्य ज्ञान का साधन कहते हैं किन्तु भाट्ट और प्रभाकर मीमांसकों में उपमान विषयक एक मतभेद अत्यंत प्रखर है। वह मतभेद यह है कि कुमारिल भट्ट तथा उनके समर्थक दो वस्तुओं के साम्य को उन वस्तुओं से भिन्न कोई यथार्थ वस्तु अथवा कोटि नहीं मानते जबकि यथार्थवादी प्रभाकर 'गौ' और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'गवय' की भाँति ही उनकी समानता को भी एक पृथक् वस्तु मान लेते हैं। इस प्रकार प्रभाकर मत के अनुसार साम्य की यथार्थ वस्तुपरक स्वतंत्र सत्ता है जिसका ज्ञान उपमान से होता है, जबकि भाट्ट मतानुसार 'साम्य' की स्वतंत्र वस्तुपरक सत्ता नहीं है। इसका ज्ञान 'गौ' और 'गवय' के ज्ञान से ही हो जाता है।

(b) संज्ञा-सज्ञि संबंध का ज्ञान उपमान है–

परंपरागत न्याय मत के अनुसार उपमान संज्ञा–संज्ञि संबंध का ज्ञान है। महर्षि गौतम ने 'उपमान' का निरूपण करते हुए लिखा है कि प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य गुणों को साधन बना कर अप्रसद्धि साध्य का ज्ञान उपमान है।[55] प्रशस्तपाद ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिस प्रमाण से प्रसिद्ध वस्तु (अर्थात् गौ आदि) के जाने हुए समान धर्म को साधन बनाकर अज्ञात अथवा अप्रसद्धि वस्तु (यथा गवय) का ज्ञान प्राप्त किया जाता है वही उपमान है।[56] उदाहरणार्थ मान लें कोई व्यक्ति 'क' गवय को नहीं जानता। उसे कोई वनवासी यह बतलाता है कि गवय घर में देखी गई गौ के समान है। पुनः वह व्यक्ति 'क' वन में जाता है और उसे वहाँ गौ की तरह का कोई पशु दिखता है तब गौ के ज्ञात गुणों के सम्य के आधार पर जब उसे यह ज्ञान होता है कि 'यह गवय है', तो सारूप्य अथवा सादृश्य के आधार पर प्राप्त यह ज्ञान 'उपमान' कहलाता है। न्याय मंजरी में जयंत ने परंपरागत न्याय के उपमान विषयक मत की व्याख्या करते हुए कहा है कि परंपरागत न्यायमत के अनुसार किसी अधिकारी व्यक्ति, यथा वनवासी, के कथन अथवा 'अतिदेशवाक्य' के आधार पर किसी एक ज्ञात वस्तु, यथा गौ, तथा अन्य अज्ञात वस्तु यथा गवय के गुणों के सादृश्य के आधार पर हुआ संज्ञा–संज्ञि संबंध का ज्ञान, यथा, 'यह गवय है', उपमान है।[57]

नैयायिक उद्योतकर ने उपमान की महर्षि गौतम प्रदत्त परिभाषा में तनिक परिवर्तन किया है महर्षि गौतम ने उपमान को प्रसिद्ध साधर्म्य के आधार पर परिभाषित किया है।[58] अर्थात् "गौ" की (प्रसिद्धि) समानता के आधार पर गवय के ज्ञान को 'उपमान' कहा गया है। उद्योतकर ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि उपमान में प्रसिद्ध साधर्म्य की महत्ता तो है, किन्तु इसी भाँति उपमान में प्रसिद्ध वैधर्म्य की भी भूमिका है। जैसे, यदि किसी ने एकश्रृंग को नहीं देखा। यदि कोई अधिकारी व्यक्ति उस व्यक्ति को यह बतलाता है कि एकश्रृंग चतुष्पद पशु है जो अन्य पशुओं से इस अर्थ में भिन्न है कि उसे एक ही श्रृंग होता है, तो इस विभेद अथवा वैधर्म्य के ज्ञान के आधार पर जंगल में वह व्यक्ति जब एकश्रृंग को देखकर पहचान लेता है तो उसे भी उपमान ही कहेगें। इस प्रकार उपमति (उपमान का फल) 'साधर्म्य' और 'वैधर्म्य' दोनों के आधार पर संभव है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(v) अर्थापत्ति प्रमाण

मीमांसक और वेदांती अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु सांख्यों तथा नैयायिकों ने मीमांसकों द्वारा स्थापित अर्थापत्ति के पृथक् प्रमाणत्व का घोर विरोध किया है। परवर्ती काल में वेदांत मत के आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अर्थापत्ति की सर्वाधिक पुष्ट व्याख्या प्रस्तुत की जिसके द्वारा प्रमा और प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति की ज्ञान मीमांसा में प्रतिस्थापना हुई। शब्दार्थ की दृष्टि से विषय की कल्पना (अर्थ+आपत्ति अर्थात् विषय+कल्पना) अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति के समस्त समर्थक–प्राभाकर, भाट्ट तथा वेदांती इसी रूप में अर्थापत्ति को 'कल्पना के आधर पर विषय की व्याख्या करने वाले प्रमाण' के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। तथापि, अर्थापत्ति के स्वरूप के विस्तृत विवेचन के क्रम में इन तीनों मतावलम्बियों में मतभेद भी दृष्टिगोचर होते हैं।

(a) नवीन अर्थ कल्पना अर्थापत्ति है–

शाबरभाष्य के अनुसार अर्थापत्ति उस अर्थ अथवा विषय की कल्पना है जिसके बिना श्रुत अथवा दृष्ट विषय की उपपत्ति न हो। उदाहरणार्थ, यदि यह सुना जाता है कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता तथापि वह प्रचुर स्वास्थ्य है, तो दिन के भोजन–त्याग और प्रचुर स्वास्थ्य में स्पष्ट विरोधाभास दिखता है। इन दो विरोधी तथ्यों की सहधर्मिता की व्याख्या तभी संभव है जबकि यह कल्पना कर ली जाय कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। यह स्वीकृति (अथवा कल्पना) ही अर्थापत्ति है जिससे देवदत्त के दिन में भोजन करने तथापि प्रचुर स्वस्थ्य होने की व्याख्या हो पाती है।[59] अतः यह कल्पना 'अर्थापत्ति' है कि 'दवेदत्त रात्रि में भोजन ग्रहण करता है।'

कुमारिल भट्ट ने अर्थापत्ति संबंधी अपने विवेचन में शाबरभाष्योक्त 'दृष्टः श्रुतोवाऽर्थोन्यथानोपपद्यते' की व्याख्या करते हुए कहा है कि अर्थापत्ति वह ज्ञान है जिसमें एक कल्पना के द्वारा किसी ऐसे दृष्ट (इन्द्रियगोचर) अथवा किसी श्रुत (शब्दगम्य) विषय की व्याख्या संभव हो पाती है जिसकी व्याख्या इस कल्पना के अभाव में अन्य किसी दृष्ट अथवा श्रुत प्रमाण के द्वारा संभव न हो, तो इस कल्पना को 'अर्थापत्ति' कहते हैं।[60] यथा, देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता तथापि वह मोटा दिखता है–इस दृष्ट (प्रत्यक्षगोचर) अथवा श्रुत (शब्दागम्य) विषय (अर्थ) की व्याख्या इस कल्पना (आपत्ति) के अतिरिक्त अन्यथा (शेष अन्य प्रमाणों के द्वारा) संभव नहीं क़ि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। अतः देवदत्त रात्रि में भोजन करता है यह कल्पना 'अर्थापत्ति' है तथा यह 'कल्पना' 'प्रमा' अथवा प्रमाण है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रभाकर शबर कृत 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोन्यथानोपपद्यते इत्यर्थकल्पना' के स्थान पर अर्थापत्तिरपि दृष्ट श्रुतो वार्थोत्यर्थकल्पना अन्यथानोपद्यते इति' को रखते हुए अर्थापत्ति की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं उसके अनुसार अर्थापत्ति वह दृष्ट अथवा श्रुत कल्पना है जिसके द्वारा किसी एक ऐसे विषय की व्याख्या की जाती है जिस विषय की व्याख्या अन्यथा (इस कल्पना के अभाव में) संभव न हो। यथा, देवदत्त के दिन में भोजन नहीं करने तथा फिर भी पुष्ट दिखने की व्याख्या इस कल्पना (आपत्ति) के बिना संभव नहीं कि वह रात्रि में भोजन करता है। 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है'—इस विषय का ज्ञान न तो दृष्ट है न श्रुत, वरन यह काल्पनिक है।

(b) कार्य से कारण की कल्पना अर्थापत्ति है–

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अपने ग्रंथ वेदांत परिभाषा में अर्थापत्ति की वैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत की है। वेदांत परिभाषा के अनुसार उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना ही अर्थापत्ति है।[61] देवदत्त का दिन में भोजन न करना तथा फिर भी स्वस्थ रहना 'कार्य' है तथा इसके ज्ञान से इसके कारण अर्थात् 'देवदत्त द्वारा रात्रि में भोजन करने की कल्पना' ही अर्थापत्ति है। इस प्रकार वेदांत परिभाषा के अनुसार अर्थापत्ति के दो अंग है—उपपाद्य (कार्य) तथा उपपादक (कारण) जिस विषय की व्याख्या करनी होती है उसे 'उपपाद्य' कहते है तथा जो व्याख्या प्रस्तुत की जाती है उसे 'उपपादक' की संज्ञा दी जाती है। वेदांत परिभाषा के अनुसार अर्थापत्ति में उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक का ज्ञान अर्थापत्ति है।[62] यथा, देवदत्त के दिन में भोजन न करने तथा फिर भी मोटा दिखने के ज्ञान से देवदत्त के रात्रि में भोजन करने का ज्ञान अर्थापत्ति से प्राप्त किया जाता है।

(vi) अनुपलब्धि प्रमाण

भारतीय दर्शन के प्रमुख नौ संप्रदायों (तीन नास्तिक और छः आस्तिक) में से मात्र भाट्ट मीमांसक और वेदांती ही अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर, अन्य भारतीय दार्शनिक अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्ष अथवा अनुमानजन्य प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।

(a) अभाव के ज्ञान का साधन ही अनुपलब्धि है–

वेदांत मतानुसार अभाव के ज्ञान के कई साधन हो सकते हैं, जैसे 'इस समय देवदत्त वन में है 'इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि' इस समय देवदत्त घर में नहीं है। इस प्रकार कभी—कभी एक वस्तु को अन्यत्र उपस्थित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जानकर किसी अन्य स्थान विशेष में इसके अभाव का ज्ञान होता है। अभाव का यह ज्ञान अनुमानजन्य है। दूसरी और कुछ स्थितियों में अभाव का ज्ञान शब्दों के माध्यम से भी होता है, यथा मेरे इस कथन से कि 'इस समय मेरे सिर में दर्द नहीं है' आपको मेरे सिर में दर्द के अभाव का ज्ञान होता है? यह ज्ञान मेरे लिए भले ही अनुभूतिजन्य हो, आपके लिए शब्दजन्य ही है। इसके अतिरिक्त कुछ स्थितियों में एक भिन्न प्रकार से भी अभव का ज्ञान होता है, यथा इस समय इस कमरे में वृक्ष की अनुपस्थिति (अभाव) का ज्ञान। वेदांत मतानुसार यह ज्ञान न तो प्रत्यक्षंजन्य है, न अनुमान अथवा शब्दजन्य। इसे ही वेदांती 'अनुपलब्धि' प्रमाण कहते हैं। वेदांत मतानुसार अनुपलब्धि अभाव का साक्षात ज्ञान है। उदाहरणार्थ 'यहाँ वृक्ष नहीं है', यहाँ वृक्ष के अभाव का ज्ञान एक साक्षात ज्ञान है। तथापि अनुपलब्धि 'प्रत्यक्ष ज्ञान' से भिन्न है। वेदांत मतानुसार घट के अभाव का ज्ञान घट के अदर्शन (अन्+उपलब्धि) के कारण होता है। अतः घट के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। वेदांत परिभाषा में अनुपलब्धि की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ज्ञानरूप करण से उत्पन्न न होने वाले अभाव के अनुभव का जो असाधारण करण हो वही अनुपलब्धि कहलाता है।[63] इसी अर्थ में वेदांती अनुपलब्धि को प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भिन्न मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण या प्रमा किसी न किसी विषय रूप करण से (यथा घटादि से) उत्पन्न होते हैं जबकि अनुपलब्धि का करण असाधारण (यथा 'घट का अभाव') होता है।

(b) अनुपलब्धि से अभाव पक्ष का ज्ञान होता है--

मीमांसा शास्त्र के प्रारंभिक ग्रंथों में अभाव की समस्या का विधिवत निरूपण नहीं मिलता है। लेकिन जैमिनीसूत्र में दो प्रकार के निषेध की चर्चा मिलती है--पर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध। इस समस्या का सर्वप्रथम ज्ञानमीमांसीय विवेचन शाबरभाष्य में पाया जाता है। परवर्ती कुमारिल भट्ट ने अभाव के तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया है।[73] भाट्ट मीमांसा के मतानुसार भाव और अभाव एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं।[74] इसीलिए जितना सत्य 'भाव' है उतना ही सत्य 'अभाव' भी है। 'अभाव' का ज्ञान प्रत्यक्षादि अन्य पाँच प्रमाणों से नहीं होता।[75] अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। कुमारिल न्याय--वैशेषिकों के इस मत का खंडन करते हैं कि 'अभाव' अधिष्ठान की विशेषता है। दूसरी ओर भाट्ट मीमांसक सांख्यों और प्रभाकरों के इस मत का भी खंडन करते हैं कि अभाव 'रिक्ताधिष्ठान' है। भाट्ट मीमांसक अभाव को 'अधिष्ठानातिरिक्त तत्त्व' (अध्ष्ठिान के अतिरिक्त स्वतंत्र वस्तु) कहते हैं। भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है। अनुपलब्धि प्रमाण प्रत्यक्षादि अन्य पाँच प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति से भिन्न है। इन पाँच

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रमाणों से जहाँ 'भाव' का या सत्ता के भाव–पक्ष का ज्ञान होता है वहाँ अनुपलब्धि से सत्ता के अभाव पक्ष का ज्ञान होता है।

(vii) ऐतिह्य प्रमाण

पुराणों में ऐतिह्य को भी ज्ञान का स्वतंत्र प्रामण स्वीकार किया गया। ऐतिह्य अथवा लोक परंपरा से प्राप्त ज्ञान भी एक प्रकार का उपेदश जनित ज्ञान ही है। किन्तु लोक परंपरा से प्राप्त ज्ञान अथवा ऐतिह्य आप्त वचन नहीं होता। (एव हि ऐतिहस्य न प्रमान्तरता भविष्यति उपदेशरूपत्वा विशेषात्)[76] यह ज्ञान आप्त वचन से भिन्न अदृष्ट परक प्रमाण है। प्रेत अथवा पितर भीत में बिना छिद्र बनाये हाथ बाहर निकालते हैं। अथवा लोक परंपरा में पुण्य–पाप का फल मिलता है। पुण्य करने से स्वर्ग मिलता है तथा पाप करने से नरक। पुराणों में वर्णित इस प्रकार के ज्ञान एतिह्य प्रमाण के उदाहरण हैं। ऐतिह्य से तात्पर्य जनश्रुति या परंपरा से है। वत्स्यायन भाष्य में ऐतिह्य को परिभाषित करते हुए नैयायिकों ने लिखा है कि इति हो चुः इत्यनिर्दिष्ट प्रवक्तक प्रवादपारम्पर्यम् ऐतिह्यम।[77] अर्थात् 'ऐसा किन्ही ने कहा था।' यों वक्ता का नाम निर्देश न होते हुए जो प्रवाद (जनश्रुति) परंपरा चली आती है, उसे ऐतिह्य क़हते हैं।

(viii) परिशेष प्रमाण

प्रसक्त के प्रतिषेध से परिशिस्यमाण का जो ज्ञान होता है उसे परिशेष प्रमाण कहते हैं। यह विधिमुख और निषेधमुख से द्विविध होता है। विधिमुख परिशेष का उदाहरण है–चैत्र और मैत्र में, यह चैत्र है इसके आधार पर दूसरे में मैत्र होने का ज्ञान। इसी प्रकार यह चैत्र नहीं है यह कहने पर उसके मैत्र होने का जो ज्ञान होता है उसे निषेधमुख परिशेष कहते हैं।

(ix) चेष्टा प्रमाण

हाथ को अपनी तरफ मोड़ने की क्रिया से अपनी तरफ बुलाने का जो बोध होता है और बाहर की तरफ फैलाने की क्रिया से बाहर जाने की आज्ञा का जो बोध होता है अथवा ओठों पर उंगली रखने से चुप रहने का जो संकेत मिलता है और दो संख्या बताने के लिए दो उंगली का जो संकेत किया जाता है उसे 'चेष्टा' प्रमाण कहा जाता है। न्याय वैशेषिक आचार्यों के अनुसार इसे पृथक् प्रमाण मानना उचित नहीं, क्योंकि इनसे उपर्युक्त शब्द का स्मरण मात्र होता है। तान्त्रिकों ने चेष्टा को प्रमाणान्तर से शब्द प्रमाण माना है। चेष्टा को परिभाषित करते हुए कहा गया है–*शब्दस्मारकः शब्दानुमापको वा हस्तादिक्रिया विशेषः।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(x) आर्ष प्रमाण

आर्षज्ञान को विद्या का चतुर्थ भेद मानते हुए प्रशस्तपाद कहते हैं कि आगम का निर्माण करने वाले महर्षियों को उनके विशेष प्रकार के पुण्य से भूत, भविष्य, वर्तमान, अतीन्द्रिय, धर्माधर्मादि विषयक जो प्रातिभ ज्ञान होता है, उसे आर्ष कहते हैं।[78] श्रीधर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इन्द्रिय एवं हेतु प्रभृति यथार्थ ज्ञान के साधनों के न रहने पर भी जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रतिभा कहते हैं तथा इस प्रतिभा को ही प्रातिभज्ञान या आर्षज्ञान कहते हैं। इस प्रातिभज्ञान द्वारा अतीत, अनागत, अतीन्द्रिय वस्तुओं का, धर्म–अधर्म आदि का ज्ञान होता है। ज्ञान, तप और समाधि से ऐसे उत्कृष्ट धर्म का मनुष्य में उदय होता है जिससे प्रतिभा उत्पन्न होती है (विद्यातसमाधिजः प्रकृष्टो धमस्तस्मात् प्रतिभोदयः)। हाँलाकि यह प्रातिभज्ञान अधिकतर ऋषियों को ही होता है पर साधारण मनुष्यों को भी कदाचित् ऐसा ज्ञान हो जाता है। जैसे कि कोई छोटी बच्ची कहती है कि 'कल मेरा भाई आयेगा' और सचमुच दूसरे दिन उसका भाई आ जाता है। अब इस ज्ञान को प्रमाणिक माना जाना चाहिए।[79] न केवल श्रीधर अपितु जयंत भट्ट, वल्लभ प्रभृति दूसरे दार्शनिक भी उपर्युक्त तरह के प्रातिभ ज्ञान को प्रामाणिक मानते हैं, चाहे यह लौकिक हो या आर्ष।[80] इस प्रातिभ या आर्षज्ञान की विशेषता उसकी अपरोक्षता है।

(xi) प्रत्यभिज्ञा प्रमाण

पूर्वानुभूति के आधार पर पूर्वकाल में जानी गई वस्तु का वर्तमान में प्रत्यक्ष होने पर उसे पहचान लिया जाना प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। यथा, देवदत्त नामक व्यक्ति यदि पूर्वकाल में वाराणसी में मिला हो और पुनः यदि वही व्यक्ति वर्तमान में पटना में मिले तो पटना में इसे पहचान लेना कि 'यह वही देवदत्त है' प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। वेदांत मत इस प्रकार के ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष की कोटि में रखता है क्योंकि इसमें विशेष्य–विशेषण ज्ञान होता है। किंतु न्याय मतानुसर प्रत्यभिज्ञा और सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भेद है। सविकल्पक अथवा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भूतकाल की कोई भूमिका नहीं होती जबकि प्रत्यभिज्ञा में भूतकाल की भूमिका होती है। भूतकाल और वर्तमान की संवेदना मिलाकर ही प्रत्यभिज्ञा का जन्म होता है। पुनः प्रत्यभिज्ञा स्मृति से भी भिन्न है। स्मृति में बोध की वस्तु ज्ञाता के सम्मुख साक्षात उपस्थित नहीं होती, जैसे मुझे कल ग्रहण किये गये भोजन का स्मरण हो रहा है। यहाँ वर्तमान समय में भोजन मेरे सम्मुख उपस्थित नहीं है। दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञा में स्मृति की भूमिका तो निश्चय ही होती है किन्तु यहाँ विषय ज्ञाता के सम्मुख साक्षात उपस्थित होता है, जैसे वाराणसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में देखे गये देवदत्त को पुनः वर्तमान समय में अपने सामने उपस्थित पाकर उत्पन्न हुआ यह बोध "यह देवदत्त है।"

(xii) तर्क प्रमाण

साधारणतः प्रतिवादी के खंडन के लिए जो युक्ति दी जाती है, उसे तर्क कहते हैं दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रतिवादी के कथन को खंडित करके अपने पक्ष का परोक्ष रूप से समर्थन करने के लिए वादी द्वारा प्रयुक्त काल्पनिक युक्ति को तर्क कहते हैं। पाश्चात्य तर्क शास्त्र में इसे **Indirect Proof** या **Hypothetical Argument** कहा जाता है। श्री केशव मिश्र ने तर्क की परिभाषा देते हुए लिखा है श्री केशव मिश्र के अनुसार तर्क अनिष्ट प्रसंग है। तर्क के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए केशव मिश्र ने लिखा है कि जब दो पदार्थों में एक के रहने पर दूसरे का होना निश्चित होता है तो एक के होने की ऊहा (कल्पना) करते ही दूसरे की सत्ता न चाहते हुए भी माननी पड़ती है। अनिष्ट (जो वांछित नहीं था) की इस प्रकार की प्राप्ति को ही तर्क कहते हैं। उदाहरणतया जब हम कहते हैं कि 'यदि यहाँ अग्नि का अभाव होता तो धुँए का भी अभाव रहता' तो यहाँ अग्नि का सद्भाव प्रतिपादित करने के लिए अधूमवत्व (जो कि अनिष्ट था) की आपत्ति की जा रही है।

तर्क को जैन दर्शन में भी प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन नैयायिकों की दृष्टि में तर्क अप्रमाण है। महर्षि गौतम के अनुसार किसी व्यक्ति को यदि किसी विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं है, और वह उस विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और उस विषय की उपपत्ति के दो या अधिक पक्षों में से जिस ओर उपपत्ति अधिक अनुरूप दिखाई दे उसी का समर्थन करता है तो इस प्रक्रिया को तर्क कहते हैं। महर्षि वात्स्यायन का मत है कि तर्क प्रमाण नहीं है। परंतु प्रमाणों का अनुग्राहक होने से तर्क तत्त्वज्ञान में सहायक है।[81] उदाहरणार्थ 'पर्वत अग्निमान् है या अग्निहीन है' इस प्रकार संदेह होने पर कोई व्यक्ति यह मान सकता है कि 'पर्वत अग्निहीन है'। इस संदेह के निवारण के लिए इस प्रकार तर्क किया जा सकता है—यदि पर्वत अग्निहीन होता तो धूमहीन भी होता क्योंकि जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम भी नहीं। अग्निहीन होने से धूमहीन होने की इस आपत्ति को तर्क कहा जाता है। इस तर्क से अग्नि के अनुमान में सहायता मिलती है। अतः तर्क सहायक है। इस प्रकार सहायक होने से इसे प्रमाण का अनुग्राहक भी कहते हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन में तर्क संशय से आगे की कोटि का प्रमानुग्राहक तत्व है। अतः तर्क प्रमाण न सही लेकिन प्रमा की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण सोपान तो है ही।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(xiii) लोक प्रसिद्धि प्रमाण

पार्थ सारथि मिश्र द्वारा न्याय रत्नाकर में की गई चर्चा से लोकप्रसिद्धि (लोक प्रमाण) नामक स्वतंत्र प्रमाण के संदर्भ संकेत प्राप्त होते हैं। लोक में प्रसिद्ध किसी व्यक्ति की लोक प्रसिद्धि को आधार मानकर उससे प्राप्त धर्म–अधर्म आदि के ज्ञान को प्रामाणिक मान लिया जाता है तो इस प्रकार के प्रमाण को लोक प्रसिद्धि या लोक प्रमाण कहा जाता है। न्याय दर्शन के दार्शनिक पार्थ सारथि मिश्र लोक प्रसिद्धि प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते हैं। लोक प्रसिद्धि प्रमाण की स्वतंत्र प्रामाणिकता का खंडन करते हुए पार्थ सारथि मिश्र कहते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान के अतिरिक्त लोक प्रसिद्धि नाम की कोई वस्तु ही नहीं होती है।

(xiv) स्मृति प्रमाण

संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है। जैन दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन में स्मृति को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है, लेकिन, मीमांसक, बौद्ध तथा न्याय स्मृति के प्रमात्व को स्वीकार नहीं करते। अन्नभट्ट के अनुसार संस्कार मात्र से उत्पन्न अर्थात पहले देखी गई या अनुभूत वस्तु की याद करने से जो बोध होता है उसे स्मृति कहते हैं।[82] केशव, मिश्र के अनुसार पूर्वानुभव से जिस वस्तु का संस्कार आत्मा में सुप्तवत् पड़ा रहता है, उस वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु का दर्शन होने पर स्मृति का उदय होता है।[83]

मीमांसकों और वेदांतियों के विचार में भी स्मृति ज्ञान पहले से ही अनुभूत का अनुभव है इसलिए इनके मत में स्मृति के अप्रमात्व का कारण अनधिगतार्थ–गन्तृत्व का अभाव है। जयंत भट्ट भी स्मृति को प्रमाण नहीं मानते किन्तु उनका स्मृति को प्रमाण न मानने का कारण मीमांसकों की भाँति यह नहीं है कि स्मृति में किसी नयी वस्तु का अनुभव नहीं होता बल्कि वे इसलिए अप्रमाण मानते हैं क्योंकि स्मृति के द्वारा हम जिस वस्तु का अनुभव करते हैं वह हमारे समक्ष उपस्थित नहीं होती। अर्थात् स्मृति में पदार्थ का ज्ञान पदार्थ के द्वारा नहीं होता इसलिए अन्नभट्ट भी स्मृति को अप्रमाण मानते हैं। इस प्रकार न्यायदर्शन, मीमांसा दर्शन और बौद्ध नैयायिक स्मृति को अप्रमा मानते हैं। किन्तु जैन दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन स्मृति को प्रमा रूप मानते हैं। इन दर्शनों के अनुसार स्मृति केवल पिछले अनुभवों के संस्कारों की फिर से केवल अभिव्यक्ति मात्र नहीं है। जैन दर्शन ज्ञान के पाँच प्रकार मानता है–मति, श्रुति, अवधि, मनः, पर्याय एवं केवल। मति ज्ञान साधारण ज्ञान है, जो इन्द्रिय से प्रत्यक्ष संबंध द्वारा प्राप्त होता है। इसी के अंतर्गत आते हैं 'स्मृति' संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञा अथवा पहचान और तर्क अथवा प्रत्यक्ष के आधार पर किया गया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आगमन अनुमान, अभिनिबोध या अनुमान, अथवा निगमन विधि का अनुमान। मतिज्ञान के तीन भेद किए जाते हैं अर्थात् उपलब्धि अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान, भावना अथवा स्मृति और उपभोग अथवा अर्थग्रहण।

वैशेषिक दर्शन भी स्मृति को प्रमा रूप मानता है। वैशेषिक दर्शन के प्रामाणिक ज्ञानों में स्मृति भी एक है। प्रामाणिक ज्ञान के चार प्रकार स्वीकार किए गए हैं, जो ये हैं–प्रत्यक्ष लैंगिक (अनुमान) स्मृति तथा अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान (आर्षज्ञान)–स्मृति को स्वतंत्र स्थान दिया गया है।[54] स्मृति को इसलिए अप्रमा नहीं कह सकते हैं कि वह भूत काल का विषय प्रस्तुत करती है। यह उतनी ही वस्तुनिष्ठ है जितनी कि वे वस्तुएँ वस्तुनिष्ठ हैं जो वर्तमान में पायी जाती हैं। जब अनुमान ज्ञान होता है तो स्मृति उसमें सहायक होती है। अनुमान के लिए स्मृति आवश्यक है। स्मृति जन्य ज्ञान इतना उपयोगी है कि अन्य ज्ञान के साधनों में इसका उपयोग जरूरी माना गया है। स्मृति के प्रमात्व की अवहेलना नहीं कर सकते। भूतकाल के ज्ञान तथा अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा उपमान प्रमाण में भी स्मृति जन्य ज्ञान की उपयोगिता है। स्मृति प्रमात्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि स्मृति का विषय वास्तव में वस्तुस्थिति न होकर हमारा पूर्वज्ञान ही है, वही उसका प्रदत्त है तथा उसी से अनुरूपता अथवा अननुरूपता पर स्मृति का प्रमात्व अथवा अप्रमात्व निर्भर करता है। हमारे पूर्व ज्ञान के बारे में स्मृति को प्रमाण मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। स्मृति भी यथार्थ अथवा अयर्थाथ हो सकती है, अतः प्रमा तथा अप्रमा के भेद को स्मृति के संदर्भ में करके स्मृति को प्रमा के अंतर्गत ही माना जाना चाहिए। अद्वैतवेदांत दर्शन के दार्शनिक धर्मराजा इस पक्ष में हैं कि स्मृति को यदि प्रमा रूप मान लें तो कोई हर्ज नहीं है क्योंकि स्मृति में प्रमाण के अन्य लक्षण मौजूद होते हैं।

(xv) संभव प्रमाण

पुराणों में संभव को ज्ञान का स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार किया गया है। न्यायसूत्र में महर्षि गौतम इसे निम्न रूपों में बताते है यथा संभवोनामाविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ता ग्रहणादन्तस्य सत्ता ग्रहणम्–न्यायसूत्र। अर्थात् संभव प्रमाण स्वतंत्र प्रमाण माना जाना चाहिए जैसे कुआँ खोदने के ख्याल से इधर का स्थान उधर से अच्छा है। अतः यहाँ कुआँ खोदने पर पानी मिलेगा। इस तरह के ज्ञान को संभव प्रमाण माना गया। वात्स्यायन ने भी संभव प्रमाण के संदर्भ में बताया कि पसेरी के ज्ञान में उसके ढ़ाई तौल (2.5) का तथा ढ़ाई तौल के उसके सवा सेर का ज्ञान संभव प्रमाण है। अर्थात् जिसे पसेरी का ज्ञान है, संभव ज्ञान के रूप में उसे 2.5 तौल का भी ज्ञान है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव ऐतिह्य, लोकज्ञान, प्रातिभ या आर्ष, चेष्टा, परिशेष, स्मृति,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यभिज्ञा और तर्क के रूप में एक से लेकर पंद्रह प्रमाणों की स्वीकारोक्ति प्राप्त होती है। इन पंद्रह प्रमाणों में से कोई दार्शनिक एक को, कोई दो को, कोई तीन को तो कोई चार को कोई पाँच को कोई छः को कोई आठ को, कोई दस को, कोई बारह को और कोई पूरे पंद्रहों को प्रमाण के रूप में मानने के लिए आतुर दिखलाई देता है। ज्ञान के इन विविध प्रकार भेदों में कोई दर्शन क्यों केवल किसी विशेष या किहीं विशेष प्रकार भेदों को ही स्वीकार करता है यह उस दर्शन विशेष की अपनी तात्विक, नैतिक आध्यात्मिक, सांस्कृति, किंवा दार्शनिक मान्यताओं से निर्धारित होता है और इस स्वीकृति से उन दर्शनों का अपना स्वरूप भी निर्धारित होता है।

3. प्रमाणों में अंतर

भारतीय दर्शनों में प्रमाणों की संख्या को लेकर यद्यपि काफी गहरे मतभेद है, लेकिन चार्वाक को छोड़कर समस्त भारतीय दर्शन इस बात के लिए एक मत है कि केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्रा प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। इस मुद्दे पर बौद्ध और बौद्धेत्तर सारे दर्शन चार्वाकों की आलोचना करते हैं। ऐसा लगता है, जैसे चार्वाक कृत अनुमान के खंडन का निराकरण संपूर्ण भारतीय दार्शनिकों के लिए जीवन--मरण का प्रश्न हो। चार्वाकेत्तर समस्त भारतीय दार्शनिकों की यह मान्यता है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण नहीं है, अपितु परोक्ष ज्ञान को भी स्वीकार करना होगा। अतः इस परोक्ष ज्ञान में कोई केवल अनुमान को मानता है तो कोई अनुमान और शब्द को, कोई अनुभान, शब्द और उपमान को, कोई अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति को, कोई अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को या किन्हीं अन्य प्रमाणों (स्रोतों) को। स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अनुमान की स्वतंत्रा प्रामाणिकता को चार्वाकेत्तर समस्त भारतीय दार्शनिक एकमत होकर स्वीकार करते हैं।

प्रत्यक्ष और अनुमान की तरह ही शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि या अन्य प्रमाणों को यद्यपि समस्त भारतीय दार्शनिक एकमत होकर स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकृति नहीं देते हैं, किंतु प्रत्यक्ष और अनुमान से इत्तर प्रमाणों, जैसे–शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि या अन्य प्रमाणों को भी एक से अधिक दर्शन अपनी ज्ञान मीमांसा में प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हुए देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए, जैसे शब्द (आगम) प्रमाण को सांख्य, दर्शन, योग दर्शन, न्याय दर्शन, जैन दर्शन, मीमांसा दर्शन और वेदांत दर्शन अपनी प्रमाण मीमांसा में स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन इन दर्शनों में शब्द प्रमाण के स्वरूप के संबंध में काफी मतभेद विद्यमान हैं। जैसे–न्याय दर्शन के दार्शनिक महर्षि गौतम का कहना है कि आप्त का उपदेश ही शब्द है।[85] लेकिन जयंत मिश्र का कहना है कि शब्द की अपेक्षा 'शब्दार्थ ज्ञान' को शब्द प्रमाण कहा जाना चाहिए। गंगेशोपाध्याय ने शब्द

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के बजाय 'वाक्यार्थ ज्ञान' को शब्द प्रमाण कहा है।[86] जैन दर्शन में यथार्थ के अभिधान को शब्द कहा गया है।[87] जैन दार्शनिक शब्द के दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक दो भेद करते हैं, लेकिन वे अदृष्टार्थक शब्द में वेदों के शब्दों को शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। जैन दर्शन केवल अर्हत के कथनों को ही शब्द प्रमाण मानते हैं, जबकि नैयायिक वेदों को पौरुषेय मानते हुए भी उनको प्रामाणिक मानते हैं। वाचस्पति मिश्र केवल वेद वाक्यों को ही शब्द प्रमाण के अंतर्गत स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्मृति, वेदांग, इतिहास तथा पुराण आदि के वचनों को इसलिए शब्द प्रमाण माना है, क्योंकि इनका मूल वेदों में है। कुमारिल भी श्रुति को शब्द प्रमाण मानते हैं। वेदांत मत में भी शास्त्रों में लिखे–कहे गए कथनों को शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। नैयायिक आप्त पुरुष के वचन को शब्द प्रमाण के रूप में परिभाषित करते हैं, जबकि मीमांसक वाक्यार्थ बोध को शब्द प्रमाण मानते हैं। चार्वाक शब्द नामक किसी प्रमाण को मानते ही नहीं है। बौद्ध बुद्ध के वचनों को तो प्रामाणिक मानते हैं, किंतु शब्द प्रमाण को नहीं मानते हैं। वैशेषिक दार्शनिक शब्द को अनुमान के अंतर्गत ही समाविष्ट मानते हैं। अतः शब्द प्रमाण के संबंध में भारतीय दार्शनिक संप्रदायों में मतैक्य नहीं है।

इसी प्रकार न्याय, मीमांसा और वेदांत–तीनों दर्शनों में उपमान को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। पर नैयायिकों का जो उपमान है, वह मीमांसकों का उपमान नहीं है। नैयायिकों के अनुसार संज्ञा–संज्ञि संबंध ज्ञान कराने वाला ही उपमान प्रमाण माना गया है अर्थात् न्याय की मान्यता है कि उपमान के द्वारा हमें ज्ञान होता है कि 'गवय गौसदृश हैं', जबकि मीमांसकों के अनुसार, उपमान से हमें ज्ञात होता है कि 'गौ गवय सदृश हैं।'[88] इस प्रकार मीमांसा और न्याय दोनों का उपमान भिन्न–भिन्न है। इसी प्रकार नैयायिकों और वेदांतियों के उपमान में भी भिन्नता है। नैयायिकों ने उपमान विषयक वेदांत मत की आलोचना करते हुए कहा है कि वेदांत के उपमान में नवीनता (अनधिगतता) का लक्षण विद्यमान होने से उनका उपमान स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसी प्रकार मीमांसकों और वेदांतियों के उपमान में भी मतैक्य नहीं पाया जाता है। इतना ही नहीं, मीमांसा दर्शन के ही दोनों संप्रदायों–प्राभाकर और भाट्टों के मध्य उपमान विषयक यह मतभेद अत्यंत प्रखर है कि कुमारिल भट्ट तथा उनके समर्थक दो वस्तुओं के साम्य को उन वस्तुओं से भिन्न कोई यथार्थ वस्तु अथवा कोटि नहीं मानते, जबकि यथार्थवादी प्राभाकर गौ और गवय की भांति ही उनकी समानता को भी एक पृथक वस्तु मानते हैं। फलतः प्राभाकर के मत के अनुसार, साम्य की यथार्थ वस्तुपरक स्वतंत्र सत्ता है, जिसका ज्ञान उपमान से होता है, जबकि भाट्ट मतानुसार, 'साम्य' की स्वतंत्र वस्तुपरक सत्ता नहीं है। इसका ज्ञान गौ और गयव के ज्ञान से ही हो जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपमान को प्रमाण के रूप में स्वीकृत करने वाले दर्शनों के समान ही उपमान का खंडन या उपमान का अंतर्भाव करने वालों के मध्य भी मतवैभिन्न विद्यमान है। उदाहरण के लिए, जैसे बौद्ध तथा सांख्य दर्शन उपमान को प्रत्यक्ष में अंतर्भावित करते हैं, जबकि वैशेषिक उपमान के अनुमान में समाविष्ट मानते हैं। मीमांसक नैयायिकों के उपमान का शब्द में अंतर्भाव करते हैं। जबकि कुछ दार्शनिक उपमान का प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों में अंतर्भाव मानते हैं। जबकि कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं, जो कि उपमान को पाश्चात्य दर्शन के सादृश्यानुमान से तुलना करते हैं। कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं, जो कि उपमान को साक्षात् अनुमान में समाहित कर देते हैं।

अब यदि अर्थापत्ति की बात करें तो हम पाते हैं कि भारतीय दर्शन के दो दार्शनिक संप्रदाय–मीमांसा और वेदांत अर्थापत्ति को वैध ज्ञान का स्वतंत्र साधन (प्रमाण) मानते हैं। मीमांसा दर्शन के प्रसिद्ध ग्रंथ शाबर भाष्य में सर्वप्रथम अर्थापत्ति प्रमाण की चर्चा प्राप्त होती है। शाबर के अनुसार, अर्थापत्ति उस अर्थ की कल्पना को कहा जाता है, जिस अर्थ की कल्पना के बिना दृष्ट या श्रुत अर्थ (विषय) की उत्पत्ति न हो। कुमारिल भट्ट शाबर कृत अर्थापत्ति को ज्यों–का–त्यों स्वीकार करते हैं, जबकि प्रभाकर मिश्र शाबर के शब्दों का क्रम बदलकर कहते हैं कि यदि कोई दृष्य या श्रुत अर्थ ऐसे किसी दूसरे अर्थ के बोध का साधन बन जाता है, जिसकी संगति प्रथम अर्थ की कल्पना किए बिना ठीक नहीं बैठती तो यह अर्थापत्ति प्रमाण कहलाएगा। शाबर ने अर्थापत्ति का श्रुत और दृष्ट विषय संबंधी भेद नहीं किया है, जबकि कुमारिल अर्थापत्ति के श्रुत और दृष्ट नामक दो भेद करते हैं। प्रभाकर का यह कहना है कि श्रुत और दृष्ट एक ही प्रमाण के दो नामांतर हैं। अतः श्रुतार्थापत्ति का पृथक् भेद नहीं है।[89]

इसी प्रकार अर्थापत्ति की मीमांसा प्रदत्त व्याख्या तथा वेदांत प्रदत्त व्याख्या में एक मौलिक भेद देखने को मिलता है। वह भेद यह है कि एक ओर जहां मीमांसक प्रदत्त विषय की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति प्रमाण की उपादेयता को स्वीकार करते हैं, वहां वेदांती प्रदत्त विषय के ज्ञान के आधार पर काल्पनिक विषय के ज्ञान को अर्थापत्ति के आधार पर संपुष्टि प्रदान करते हैं। अर्थापत्ति प्रमाण के संबंध में न केवल अर्थापत्ति को प्रमाण मानने वालों में मतभेद है, बल्कि अर्थापत्ति का खंडन करने वाले दर्शनों या अर्थापत्ति का अंतर्भाव करने वाले दर्शनों में भी पाया जाता है। उदाहरण के लिए, जैसे–सांख्य दर्शन और न्याय दर्शन अर्थापत्ति को एक प्रकार का अनुमान मानते हुए अर्थापत्ति को केवल व्यतिरेकी अनुमान के रूप में दिखलाने की चेष्टा करता है।[90] सांख्य दर्शन अर्थापत्ति का अंतर्भाव व्यतिरेकी अनुमान में करता है।[91] जबकि कुछ दार्शनिक अर्थापत्ति को शब्द प्रमाण में अंतर्भावित करते हुए कहते हैं कि अर्थापत्ति अर्थ का बोध है। अर्थ का बोध शब्द प्रमाण में भी होता है। अतः अर्थापत्ति शब्द प्रमाण में अंतर्भावित है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय ज्ञान मीमांसा में कुछ दार्शनिक छठे प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि नामक एक स्वतंत्र प्रमाण की प्रस्थापना करते हैं। अनुपलब्धि को भारतीय दर्शन में केवल भाट्ट मीमांसक और वेदांती ही स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन भाट्ट मीमांसकों और वेदांतियों के मध्य भी अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप को लेकर काफी कुछ समानताओं के बावजूद भी कुछ भिन्नताएं भी दिखलाई देती हैं। कुमारिल भट्ट वेदांतियों की भांति ही यह स्वीकार करते हैं कि अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार, भाव और अभाव एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं। इसलिए जितना सत्य भाव है, उतना ही सत्य अभाव भी है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति से सत्ता के भाव (भावात्मक पदार्थ) का ज्ञान होता है, उसी प्रकार से अनुपलब्धि से सत्ता के अभाव (अभावात्मक पदार्थ) पक्ष का ज्ञान होता है। अतः स्पष्ट है कि भाट्ट मीमांसकों के अनुसार, अनुपलब्धि एक स्वतंत्र प्रमाण है। लेकिन वेदांती दार्शनिक धर्म राजा ध्वरींद्र भाट्ट मीमांसकों की अनुपलब्धि की परिभाषा में थोड़ा परिवर्तन करते हुए कहते हैं कि ज्ञानरूपी करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है। इस प्रकार वेदांतियों ने मीमांसकों द्वारा बतलाई गई अनुपलब्धि की परिभाषा में असाधारणता को जोड़कर मीमांसकों से भिन्न अनुपलब्धि को प्रस्तुत किया है।

जिस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप को मानने वाले दर्शनों में अनुपलब्धि के संबंध में मतांतर देखने को मिलते हैं, उसी प्रकार से अनुपलब्धि का अंतर्भाव करने वाले दर्शनों में भी मतभेद देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार 'अभाव' की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, अतएव अभाव के ज्ञान के साधन के रूप में अनुपलब्धि प्रमा का वैध साधन नहीं है। प्राभाकरों के अनुसार, अनुपलब्धि का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। न्याय मत यद्यपि अभाव की वस्तुपरक सत्ता को स्वीकार करता है, लेकिन वह अनुपलब्धि प्रमाण को स्वीकार नहीं करता। न्याय मत के अनुसार, अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। योगमत भी अभाव की वस्तुपरक सत्ता को अस्वीकार करते हुए कहता है कि वस्तु का नहीं दिखना (अनुपलब्ध होना) वस्तु के अभाव का द्योतक नहीं है। वस्तुएं तो अन्य कारणों से, जैसे–प्रकाश आदि की कमी या इंद्रिय दोष के कारण अनुपलब्ध हो जाती हैं। इस प्रकार योग मत अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष में ही अंतर्भावित मानता है। वैशेषिक दर्शन में अभाव को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है, किंतु वैशेषिकों के अनुसार, अभाव का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में अनुपलब्धि अनुमान में अंतर्भावित है। वैशेषिकों के समान ही बौद्ध दार्शनिक भी अभाव के ज्ञान में अनुपलब्धि का अर्थ योग्यानुपलब्धि लगाते हुए अनुपलब्धि को अनुमान में ही अंतर्भावित करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परोक्ष ज्ञान के साधन के रूप में अनुमान प्रमाण को चार्वाक को छोड़कर लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन अनुमान प्रमाण की भी वही स्थिति है; जो कि अन्य प्रमाणों की पाई जाती है। महर्षि कणाद ने कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी एवं समवादी आदि के आधार पर संबद्ध लिंगी का जो ज्ञान होता है, उसको अनुमान कहा है। जबकि उदयन और श्रीधर ने दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमिति तथा स्मृति द्वारा ज्ञात हेतुओं से प्राप्त ज्ञान को अनुमान कहा है।[82] जबकि न्याय दर्शन में गौतम ने 'तत्पूर्वक त्रिविध मनुमानम' के रूप में अनुमान का लक्षण किया है। सांख्य सूत्रकार कपिल ने प्रतिबंध दर्शन से प्रतिबद्ध के ज्ञान होने का अनुमान कहा है।[83] जैन दार्शनिक अकलंक ने साधन द्वारा साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है।[84]

जबकि बौद्ध दार्शनिक दिग्नांग ने अविनाभाव संबंध के द्वारा नान्तरीयक के दर्शन को अनुमान कहा है।[85] दिग्नांग ने यह भी कहा है कि उपस्थित वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष से और अनुपस्थित वस्तु का ज्ञान अनुमान से होता है। प्रमाण समुच्चय में दिग्नांग ने यह भी कहा है कि सामान्य का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। जबकि धर्मकीर्ति ने प्रमाण वार्तिक में अनुमान का साधारण लक्षण दिया और न्याय बिंदु में स्वार्थानुमान का अलग एवं परार्थानुमान का अलग लक्षण दिया है। प्रमाण– वार्तिक में धर्मकीर्ति ने संबंधी के धर्म से धर्मी के विषय में उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमान कहा है। जबकि न्याय बिंदु में धर्मकीर्ति ने कहा है कि परार्थानुमान त्रिरूपलिंग, अन्वय, व्यतिरेक पक्षधर्मत्व संज्ञक से उद्भूत शब्दात्मक ज्ञान है और स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है, जो कि अनुमेय सत्व, सपक्ष सत्व और विपक्षासत्व संज्ञक लिंग से उद्भूत होता है। बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर के विचार में अनुमान का विषय कल्पित होता है, क्योंकि अनुमान एक ऐसी वस्तु का किया जाता है, जो अनुपस्थित है। जिसका साक्षात् ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसकी तो केवल कल्पना ही की जा सकती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अनुमान को प्रमाण मानने वालों में अनुमान के स्वरूप–लक्षणों के संबंध में मतैक्य नहीं है। अब यदि अनुमान का खंडन करने वाले चार्वाक दर्शन की बात करें तो चार्वाक तो अनुमान के आधर पर माने जाने वाले व्याप्ति को प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान आदि के द्वारा असिद्ध ठहराते हुए अनुमान की स्वतंत्र प्रामाणिकता का खंडन करते हुए अनुमान को प्रत्यक्ष में ही अंतर्भावित कर देता है।

यदि सर्वविदित सर्वस्वीकृत प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा करें तो हम पाते हैं कि यद्यपि चार्वाक समेत सारे भारतीय दर्शन एक स्वर में प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, फिर भी आश्चर्यजनक रूप से सभी बौद्धेत्तर दार्शनिक इस बात को लेकर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सहमत हैं कि बौद्ध जिन्हें प्रत्यक्ष कहते हैं वह वस्तुतः प्रत्यक्ष का वास्तविक स्वरूप है ही नहीं। बौद्धों के अनुसार प्रत्यक्ष नाम, जाति आदि कल्पना से रहित अभ्रान्त ज्ञान होता है। लेकिन भर्तृहरि का कहना है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता है जो नामरहित हो। सारा ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है।[96]

और फिर जिस अर्थक्रियाकारित्व की बात बौद्ध करते हैं वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से संभव ही नहीं क्योंकि सारे व्यावहारिक क्रियाकलाप सविकल्पक प्रत्यक्ष पर आधारित होते हैं। वस्तुतः प्रत्यक्ष का जो स्वरूप बौद्ध बताते हैं उससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता है, इसी कारण जैन, सांख्य, प्राभाकर, वेदांती सब के सब बौद्धों के मत का खंडन करते हैं। पर यहाँ दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि नैयायिक प्रभृति प्रत्यक्ष का जो स्वरूप बताते हैं और विभिन्न इन्द्रिय सन्निकर्षों से जिस ज्ञान की उत्पत्ति की बात करते हैं वह कहाँ तक वस्तुस्वरूप अवगाही है और कहाँ तक स्वयं हमारी अपनी वर्गणाओं से सम्पृक्त है। अस्तु, क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि नैयायिकादि जिसे प्रत्यक्ष कहते हैं उसमें प्रत्यक्ष ही सब कुछ नहीं है अपितु, वह स्वयं अनुमान के अंशों को सम्मिलित किये हुए है। स्वयं गौतम ने न्यायसूत्र में इस बात को पूर्वपक्ष के रूप में उठाया है कि क्यों न प्रत्यक्ष को अनुमान ही माना जाए।

उपरोक्त विवेचन से सहज रूप में ही समझा जा सकता है कि किस प्रकार एक ही प्रमाण को मानने वाले भारतीय दर्शन और दार्शनिक लोग इन प्रमाणों के स्वरूप के संबंध में आपस में कितने मतभेद रखते हैं। भारतीय दर्शन में सर्वाधिक प्रसिद्ध या प्रचलित प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि की जो स्थिति है, कमोवेश इसी प्रकार के मतभेद भारतीय दर्शन में अप्रचलित या अप्रसिद्ध प्रमाणों–संभव, ऐतिह्य लोकज्ञान, प्रातिभ या आर्ष, चेष्टा, परिशेष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क प्रमाण की भी है।

सारांश

अवधेय है कि भारतीय दर्शनों में प्रमाणों का संख्या संबंधी मतभेद केवल संख्या निर्धारण तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका विस्तार उन–उन प्रमाणों के स्वरूप, विषय एवं प्रमाण फल तक देखा जा सकता है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों के प्रमाण मीमांसीय चिंतन के सारे मतभेद प्रमाणों की संख्या, लक्षण, विषय और फल के चारों तरफ ही घूमते हैं और प्रमाण–संख्या का मतभेद इन सभी में आधारभूत है, क्योंकि कोई भी दर्शन अपने प्रमाणमीमांसीय चिंतन में जितने प्रकार के प्रमाणों को स्वीकार करता है, उसके द्वारा वह मानवीय ज्ञान के संपूर्ण क्षेत्र को सम्मिलित और व्याख्यायित करने का दावा भी करता है। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रमाण को ज्ञान के एक स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किए जाने के पीछे उसका तर्क यह होता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि उसके द्वारा स्वीकृत उस प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु का और वस्तु स्थिति का जिस रूप में ज्ञान होता है, वह किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा उस रूप में नहीं जानी जा सकती। इस प्रकार की स्थिति में भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिंतन में प्रमाणांतर्भाव की समस्या आवश्यक रूप से उपस्थापित हो जाती है। क्योंकि भारतीय दर्शन के वैसे संप्रदाय, जिन्होंने अपनी प्रमाणमीमांसा को विकसित करने का उद्देश्य पूर्ण प्रयास किया है, उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे स्वयं के द्वारा स्वीकार किए गए प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के प्रमाणों का खंडन करें अथवा स्वयं के द्वारा स्वीकृत प्रमाणों के अंतर्गत उनका अंतर्भाव दिखाएं। वस्तुतः किसी प्रमाण के स्वतंत्रा प्रामाण्य का खंडन करना और उसका किसी दूसरे प्रमाण में अंतर्भाव दिखलाना एक ही समस्या के दो पहलू हैं।

संदर्भ

1. उपलब्धि साधनानि प्रमाणनीति प्रमीयतेअनेनेति करणार्था भिधानियो हि प्रमाणशब्दः–न्याय भा–1 |1 |3
2. मानसोल्लास, अध्याय 2.20
3. वही
4. ततार्थद विज्ञानं प्रत्यक्षमिति–न्यायवार्तिक, 1 |15
5. यस्यार्थस्य यदविज्ञानं व्यपदेश्यते यदि तदैव तदभावति नार्थान्तराद भवति तत् प्रकाश्यम्–न्यायवार्तिक, 1 |15
6. ततश्च यत्किंचिदर्स्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षमुच्यते–न्यायबिन्दु टीका, पृ–8
7. प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़ं नामजात्याद्धसंयुक्तम–प्रमाण समुच्चय, 1 |3
8. तत्र कल्पनापोढ़ामभ्रान्तं प्रत्यक्षम–न्यायबिन्दु, प्रथम परिच्छेद
9. न्यायबिन्दु, प्रथम परिच्छेद
10. तत्राक्षमक्षं प्रतीत्योपद्धते इति प्रत्यक्षम्–वात्स्यायन भाष्य।
11. अक्षाणीन्द्रियाणी घ्राणरसन चक्षुस्त्वकछोत्रमनांसि षट्।
12. श्लोकवार्तिक, 1 |1 |4
13. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमं प्रत्यक्षम्–न्यायसूत्र, 1 |1 |4
14. इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं–वात्स्यायान भाष्य 1 |1 |4
15. आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थे–। वही, 1 |1 |4
16. 'प्रत्यक्षस्व साक्षात्कारित्वं लक्षणम्'–गंगेशोपाध्याय विरचित तत्वचिंतामणि, पृ–552
17. साक्षात प्रतीतिः प्रत्यक्षम्–प्रकरणपंचिका
18. मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानम् |9।
    तत्प्रमाणे |10।
    आद्ये परेक्षम |11।
    प्रत्यक्षमन्यत् |12।
19. अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैंगिकम् वैशेषिक सूत्र 9 |2 |1
    लिंगदर्शनात् संजायमानं लैंगिकम्, प्र–भा–, 162

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

20. प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य, वैशेषिक सूत्र, 3।1।14
21. दर्शन ज्ञानं तथा च दृष्टादनुमितात् स्मृताच्च लिंगादित्यर्थः, किरणावली।
22. लिंगदृष्टमनुमितं श्रुंत वा यदनुभवरूपं ज्ञानं जनयति तल्लैंगिकम् लिंगाज्जातं लैंगिकम्, व्याप्तिविशिष्टः पक्षधर्मोलिंगम्, उ–पृ–215
23 .अनुमिति प्रमायोगव्यवच्छिन्नमनुमानम्, तच्च व्याप्तिपक्षधर्मता विशिष्ट लिंगज्ञानम्, स–प–, 146
24. तत्वपूर्वकमित्यनेन लिंगलिंगनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते।
लिंगलिंगनो सम्बद्धयोक्षोदर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते।
स्मृतया लिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोअर्थोअनुमीयते, न्याया भाष्य 1।1।5
25. प्रतिबंधदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्, सांख्य सूत्र 1।100
26. साख्य प्रवचन भाष्य, पृ–53
27. माठरवृत्ति, पृ–12.13
28. सांख्यतत्वकौमुदी, पृ–38
29. सिद्धं चानुमानदिषु प्रमाणत्वमनुभूतेः, बृ–पृ–80
30. साध्याविनाभुवो लिंगात साध्यनिश्चायकं स्मृतम्।
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वान् समक्षवत्।। न्यायावतार, का–5
31. साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानं तदत्यये, न्यायबिन्दु द्वितीय भाग 2
32. लिंगसाध्याविनाभावाभिनिबोधैक लक्षणात।
लिंगधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः।। ल–का–12
33. व्याप्ति निश्चयस्य पश्चादभाविमानमनुमानम्, प्र–न–न–3।9
34. नान्तरीयकार्यदर्शनं तद्विदोअनुमानम्।
या च सम्बन्धिनो धर्माद भूतिर्धर्मिणि ज्ञायते।
सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव सधनम्। प्रमाण वार्तिक 2।62
35. (क) तत्र स्वार्थ त्रिरूपाल्लिंगाद यदनुमेये ज्ञानं तदनुमान्, 23
(ख) त्रिरूप लिंगाख्यानं परार्थानुमान्।
36. शाबर भाष्य 1।1।5
37. वेदांत परिभाषा पृ–116.124
38. यथार्थाभिधानं शब्दः, तत्वार्थाधिगम सूत्र, 1.35
39. (क)आप्तवचनाज्जातमर्थ ज्ञानमागमः, प–मु–सू–3.99
(ख) आप्तवचनादि निबन्धनमर्थज्ञानमागमः,
(ग) प्रमाणनयतत्वालोकालंकार, 4।9
(घ) आप्तवचनादाविर्भूत–अर्थसंवेदनमागमः, जैन तर्कभाषा, पृ–19 (सिंधी जैन ग्रंथमाला, 1938)
40. (क) यथास्तिथतार्थ परिज्ञानपूर्वक हितोपदेशप्रवणआप्तः।
(ख) आप्तः शंकरहितः, शंकाहि सकलमोहरागद्वेषादयः, नि–सा–ता–वृ–5।11
(ग) आप्तः प्रत्यक्ष प्रमित सकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः, न्यादी–113
41. आप्त श्रुतिराप्तवचनं तुः साख्यकारिका 5
42. स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थविषयावृत्तिः श्रोतुरागमः, व्यास भाष्य1.1.7
43. शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेअर्थे विज्ञानमृय शाबर भाष्य पृ–105
44. शास्त्रदीपिका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

45. प्रकरणपंचिका, पृ–88
46. यस्यवाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत संसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तत् वाक्यं प्रमाणम्। वेदांत परिभाषा आगम परिच्छेदः पृ–148
47. न्याय मंजरी, 1.138
48. श्रोत्रग्राह्यवस्तुकरणिका तदर्थप्रतीतिर–भिघनक्रिया, न्याय मंजरी, 1.138
49. समयबलेन सम्यक् परीक्षानुभव साधनमागमः, न्याय सार, सम्यक् संशयादिविलक्षण ज्ञानस्य साधनं करणं शब्दात्मकं वा चेष्टालिप्यक्षरादि यत् तत् सर्वमागमः। न्याय सार टीका।
50. प्रयोगहेतुभूतार्थत्व ज्ञानजन्यः शब्दः, तत्वचिन्तामणि, शब्द खंड
51. (क) आप्तवाक्यं शब्दः, त–सं पृ–182 (सं आनंद झा)
(ख) आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्यु यथाभूतस्यार्थयोपदेष्टा पुरुषः।
वाक्यंत्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहाः, तर्कभाष्य पृ–122
52. सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्–वेदांत परिभाषा
53. गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानंकरणं गोनिष्ठगवय सादृश्यज्ञानं फलम–वेदांत परिभाषा
54. " उपमानपि सादृश्यम् असन्निकृष्टेअर्थेबुद्धिम् उत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य"–शाबरभाष्य, 1 |1 |5
55. प्रसिद्ध साधर्म्यात्साध्य साधनमुपमानम्'–न्यायदर्शनम् 1 |1 |6
56. प्रज्ञातेन सामान्यात्प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति। प्रशस्तपादभाष्यम, 1 |1 |6
57. न्यायमंजरी, 1 |28
58. न्यायदर्शनम्, 1 |1 |6
59. अर्थापत्ति दृष्टः श्रुतोवाअर्थोअन्यथानोपपद्धते इत्यार्थकल्पना–शाबरमाष्य 1 |1 |5
60. श्लोकवार्तिक (अर्थापत्ति) 1 |2
61. तत्रोप्रपाद्धज्ञानेनोपपादक कल्पनमर्थापत्ति–वेदांत परिभाषा (अर्थापत्ति) पृ–246
62. उपपाधज्ञानेन उपपादकज्ञानम् अर्थापत्ति–वही
63. ज्ञानाकरणा जन्याभावानुभवासाधारण कारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्–वेदांत परिभाषा, पृ–257
64. सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरित–न्यायबिन्दु
65. द्विविधसम्यग्ज्ञानम्–प्रत्यक्षमनुमानंच–वही
66. तत्रकल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्–वही
67. तस्य विषयः स्वलक्षणम्–वही
68. अनुमानं द्विधा–स्वार्थं परार्थं च–वही
69. तत्र स्वार्थ त्रिरूपालिंगाद्धदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्–वही
70. त्रिरूपलिंगारव्यानं परार्थानुमान्–वही
71. त्रीण्येव च लिंगानि–अनुपलब्धिः स्वमावकार्येचेति–वही
72. तत्रानुपलब्धिर्यथा–न प्रदेशविशेषे कश्चिद् घट उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्थानुपलब्धिरेति–वही
73. प्द्कपंद जीमवतल व ि‍दवूसमकमहए ब्बक्ण ठपरंसूंदए चण 274
74. 'सर्वहिवस्तु सदसदात्मना द्विविधम्'–शास्त्रदीपिका (अमाव)
75. प्रमाणपंचक यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थ तत्रभाव प्रमाणत।।–श्लोकवार्तिक
76. न्यायमंजरी
77. वात्स्यायनमाष्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

78. प्रशस्तपाद भाष्य, पृ–627.628
79. श्रीधर, न्यायकन्दली, संपा.,दुर्गाधर झा सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
80. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष सूत्र, 32
लौकिकी प्रतिभायद्वत्प्रत्यक्षाधनपेक्षिणी।
न निश्चाय पर्याप्ता तथा स्याधोगिनामपि।।
81. तर्को न प्रमाण संग्रहीता न प्रमाणान्तरं प्रमाणानां मनुग्राहकर तत्वज्ञानाय कल्पते–न्यायभाष्य, 1.1.1
82. संस्कारमात्र जन्यं स्मृतिः तर्कसंग्रहय अन्नभट्ट
83. तर्कभाष्य
84. डॉ0 राधाकृष्णन–भारतीय दर्शन, भाग–2 पृ–157
85. न्याय सूत्र, 1/1/7
86. तर्कभाषा, पृ. 146
87. तत्वार्थाधिगम सूत्र, 1/35
88. न्याय मंजरी, 1/30
89. बृहती, पृ. 85
90. तर्कभाषा, पृ. 115–116
91. सांख्यकारिका टीका, वाचस्पति मिश्र, 5
92. किरणाबली।
93. सांख्य सूत्र, 1/100
94. न्याय बिंदु, द्वितीय भाग।
95. प्रमाण वार्तिक, 2/62
96. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, 1/123

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - III

प्रमाणान्तर्भाव की रूपरेखा

प्रमाणान्तर्भव की समस्या का मूलतः संबंध यद्यपि प्रमाणों के भेद या उनकी संख्या से है, लेकिन प्रमाणों की संख्या की अवधारणा स्वयं प्रमाणों के स्वरूप, विषय, विनियोग तथ फल पर निर्भर करती है। संपूर्ण भारतीय दर्शन पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि प्रमाणों की संख्या के संबंध में नास्तिक शिरोमणि चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करता है। अनुमान, उपमानादि परोक्ष ज्ञान चार्वाक की दृष्टि में प्रमाण नहीं हैं। बौद्ध और वैशेषिक दो प्रमाण, प्रत्यक्ष और अनुमान मानते हैं।[1] सांख्य व योग तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द मानते हैं। भासर्वज्ञ को छोड़कर जो केवल तीन प्रमाण मानते हैं[2] नैयायिक चार प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को मानते हैं। प्राभाकर मीमांसक उपर्युक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी प्रमाण मानते हैं। जबकि भाट्ट मीमांसक एवं अद्वैत वेदांती इन पाँच प्रमाणों में अनुपलब्धि को भी जोड़ते हुए छः प्रमाण मानते हैं। पौराणिक उक्त छः प्रमाणों के अतिरिक्त संभव और ऐतिह्य को भी प्रमाण मानते हुए प्रमाणों की संख्या आठ कर देते हैं।

तान्त्रिक दस प्रमाण मानते हैं जिनमें उपर्युक्त आठ प्रमाणों के साथ चेष्टा एवं परिशेष भी जुड़ जाता है। पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नाकर में तथा न्यायसिद्धिकार ने प्रकरणपन्चि्का की व्याख्या में दस प्रमाणों की परीक्षा की है। दस प्रमाणों में ये दार्शनिक प्रसिद्ध आठ प्रमाणों[3] के अतिरिक्त नवें को लोकप्रमाण या लोकप्रसिद्धि तथा दसवें को आर्ष या प्रातिभ ज्ञान बताते हैं। परवर्ती जैन दार्शनिकों ने जिनमें अकलंक और वादिदेव सूरि आदि प्रमुख हैं, इस बात को बड़े ही आग्रहपूर्वक प्रतिस्थापित करते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम के साथ स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क को भी प्रमाण मानना चाहिये। अतः स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को भी जोड़ दिया जाये तो कुल पंद्रह प्रमाणों की चर्चा भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों ने की है।

यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में पश्चिमी दार्शनिक जहाँ परसेप्शन, रीजन, इन्ट्रोस्पेक्शन, इन्ट्यूशन और मेमोरी की चर्चा करते हैं वहीं भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, एतिह्य, लोकज्ञान, प्रातिभ या आर्ष, चेष्टा, परिशेष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क की चर्चा करते हैं। ज्ञान के इन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विविध प्रकार भेदों में कोई दर्शन क्यों केवल किसी विशेष या किन्हीं विशेष प्रकार के भेदों को ही स्वीकार करता है, यह उस दर्शन विशेष की अपनी तात्त्विक, नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, किंवा दार्शनिक मान्यताओं से निर्धारित होता है और इस स्वीकृति से उन–उन दर्शनों का अपना स्वरूप भी निर्धारित होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भले ही कोई दर्शन विशेष इनमें से किसी एक या कुछ विशेष प्रमाणों को ही यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में स्वीकार करे पर उसे ज्ञान के इन विविध संभावित प्रकार भेदों के संबंध में अपनी दृष्टि स्पष्ट करनी ही होगी तभी वह दर्शन एक सपूंर्ण ज्ञानमीमांसा प्रस्तुत करने का दावा कर सकता है।

चार्वाकों की स्थिति पूरी तरह स्पष्ट है। वे प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानते हैं तथा अनुमान, उपमान आदि संभव परोक्ष प्रमाणों की प्रामाणिकता को खारिज कर देते हैं। दूसरी तरफ वे दार्शनिक हो सकते हैं जो दो, तीन, चार, पांच या छः प्रमाणों को मानते हैं पर यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में संभव हो सकने वाले विभिन्न प्रमाणों को इनमें अन्तर्भूत मानते हैं। देखा जाए तो प्रमाणान्तर्भाव की समस्या का संबंध इसी से है। उदाहरण के लिए ऐसा नहीं है कि वैशेषिक दार्शनिक शब्द और उपमान की प्रामाणिकता का खंडन करते हैं, बल्कि उनका मानना है कि इन्हें स्वतंत्र प्रमाण के रूप में अलग से मानने की जरूरत नहीं है, इनका अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है। इसी तरह नैयायिक जब यह कहते हैं कि केवल चार ही प्रमाण हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान तो वे अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाणों की प्रामाणिकता को अस्वीकार नहीं करते हैं, अपितु वे कहते हैं कि इनका अन्तर्भाव अनुमान या प्रत्यक्ष में ही हो जाता है।

बौद्धों के साथ विचित्र स्थिति है वे 'मानाधीना मेयसिद्धिः' की प्रस्थापना को सिरे से अस्वीकार करते हुए वैकल्पिक प्रमेयाश्रित प्रमाणव्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार स्वलक्षण और सामन्यलक्षण दो तरह के प्रमेय होते हैं और इन दो तरह के प्रमयों में स्वलक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष से और सामान्यलक्षण का ज्ञान अनुमान से होता है। अब इस तरह की तात्त्विक मान्यता को स्वीकार करने वाले दूसरे दार्शनिक नहीं हैं, अतः बौद्धों में प्रमाणान्तर्भाव की चर्चा का वस्तुतः कोई अवकाश नहीं है। पर आश्चर्य की बात है कि शांतरक्षित, कमलशील, मोक्षाकर गुप्त, रत्नकीर्ति प्रभृति आदि बौद्ध दार्शनिकों ने इस समस्या पर विस्तृत चर्चा की है। यह चर्चा इतनी प्रौढ़ है कि पश्चात् ऐसा प्रतीत होने लगा मानो 'प्रमाणान्तर्भाव' की समस्या बौद्ध प्रमाणमीमांसा की अधारभूत समस्या हो। इसी से यह भी स्पष्ट है कि बौद्धों द्वारा की गयी प्रमाणों की मीमांसा और बौद्धेतर दार्शनिकों द्वारा की गयी एतद्विषयक मीमांसा में बहुत बड़ा अंतर है। यह अंतर यह है कि जहाँ बौद्ध दार्शनिक जब प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण बताते हैं तब वहाँ पर वे बौद्धेतर दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत विभिन्न प्रमाणों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को अस्वीकार भी करते हैं और उनका आग्रह इस विषय पर अधिक रहता है कि प्रामाणिक ज्ञान के दो ही प्रकार हो सकते हैं। बौद्धों की दृष्टि में शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि जैसे प्रमाण वस्तुतः प्रमाण ही नहीं हैं और कदाचित् इनमें कुछ प्रमाणांश हो भी तो वह अनुमान में ही समाविष्ट हो जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायादि दर्शनों के समानान्तर जब बौद्धों ने अपनी प्रमाण मीमांसा खड़ी की तो तत्पश्चात् न्यायादि दर्शनों ने प्रमाणान्तरों की संपरीक्षा के फलस्वरूप स्वसम्प्रदायानुरूप प्रमाणों की अपनी स्वतंत्र समीक्षा को उन्होंने 'प्रमाणान्तरभाव प्रकरण' में प्रस्तुत किया। यह बात तब और पुष्ट होती है जब हम यह देखते हैं कि सर्वप्रथम गौतम के न्यायसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में 'प्रमाणसंख्यापरीक्षा' के अंतर्गत इस बात की विशद् परीक्षा की गई हैय कि क्यों प्रमाणों की संख्या चार ही होगी। इस आह्निक के 2/2/1 से 2/2/12 तक सूत्रकार ने इस प्रकरण पर गंभीर विचार किया है।[4] वास्तव में ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अनुपलब्धि (अभाव) प्रमाण की चर्चा सर्वप्रथम गौतम द्वार ही मिलती है। 2/2/1 में न्यायसूत्रकार पूर्वपक्ष द्वारा यह प्रश्न उठवाते हैं कि क्यों प्रमाण चार ही हैं, आठ क्यों नहीं?

न्यायसूत्रकार का स्पष्ट अभिकथन है कि सिद्धांत मत में चार ही प्रमाणों की स्वीकृति का यह अर्थ कदापि नहीं समझा जाना चाहिए कि इनके अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव का ज्ञान प्रामाणिक नहीं है। वास्तव में ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव की प्रामाणिकता में गौतम प्रभृति नैयायिकों का पूरा विश्वास है। उनका तो मात्र यह कथन है कि इनको अलग से प्रमाण मानने की जरूरत नहीं है। इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त प्रमाणों में हो जाता है। ऐतिह्य का अन्तर्भाव शब्द में हो जाता है तथा अर्थापत्ति, संभव व अनुपलब्धि वस्तुतः अनुमान से पृथक् नहीं है। अतः प्रमाण चार ही हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। ऐतिह्यादि को अलग से प्रमाण मानने की कोई जरूरत नहीं, उनका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है—इसी प्रकरण में आगे गौतम अर्थापत्ति और अभाव के प्रामाण्य को लेकर उठने वाली आपत्तियों का निरास करते हुए उनके प्रामाण्य को सुस्थापित करते हैं। अतः नैयायिक एक ओर जहाँ केवल चार ही प्रमाण स्वीकार करते हैं, वहीं दूसरी ओर ऐतिह्य, संभव, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण की प्रमाणिकता को नकारते नहीं हैं, हाँ इनको वे अलग से प्रमाण नहीं मानना चाहते। प्रमाणान्तर्भाव विमर्श को नैयायिकों के संदर्भ में इसी अर्थ में समझा जाना चाहिए।

1. प्रमाणान्तर्भाव का सूत्रपात

प्रमाणान्तर्भाव की समस्या का सूत्रपात दिग्नांग के दर्शन से माना जा सकता है क्योंकि दिग्नांग ही वह पहला व्यक्ति है जिसने बौद्ध सम्मत प्रमाण मीमांसा की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छेदित रूप रेखा बनाई और उसे अन्यव्यावृत्त स्वायत्तता में स्थापित करने का प्रयास किया। दिग्नांग जब यह कहता है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक विषय द्वैविध्य के चलते प्रमाण न तो एक और न तृतीयादि बल्कि प्रत्यक्ष और अनुमान नामक दो ही हो सकते हैं तो इस अभ्युपगम की मूल समस्या प्रमाणसिद्धि विषयक मूलोच्छेदक अनवस्था नहीं रह जाती बल्कि प्रमाण निरपेक्ष विषय द्वैविध्य की उपस्थापना उसकी केन्द्रीय समस्या बन जाती है। भारतीय दार्शनिक चिंतन में दिग्नांग से प्रमाणमीमांसा के एक नवीन प्रस्थान का प्रारंभ होता है। इसे प्रमाणशास्त्र के गौतमीय प्रस्थान के समानान्तर 'बौद्धप्रस्थान' कहा जाना अधिक उचित होगा। दिग्नांगोत्तर काल में न्याय–बौद्ध–संघर्ष के परिणामस्वरूप इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। बौद्ध परंपरा में इसकी प्रतिष्ठा एक स्वतंत्र सम्प्रदाय में हुई है जिसे स्वतंत्र विज्ञानवाद अथवा युक्तानुयायी विज्ञानवाद के नाम से जाना जाता है। अवधेय है कि प्रमाणमीमांसा के सभी प्रश्नों का समाहार प्रमाणों की संख्या, लक्षण, विषय और फल के निर्धारण में होता है। कोई भी प्रमाणमीमांसा इन्हीं प्रश्नों के अन्य व्यावृत्त निर्धारण में अपने वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करती है।

संख्या संबंधी विप्रतिपत्ति की समीक्षा करते हुए बौद्ध न्याय में 'प्रमाणद्वित्व' को अंतिम रूप से स्वीकार किया गया है।[6] पुनः इस सन्दर्भ में बौद्ध नैयायिकों ने प्रमाण सम्पलव और प्रमाण व्यवस्था तथा प्रमाणान्तर्भाव की समस्या पर गंभीरता से विचार किया है। फलतः दिग्नांगोत्तर काल में इन दोनों समस्याओं का विकास एक स्वतंत्र प्रमाणमीमांसीय प्रकरण के रूप में हुआ है। लक्षण विषयक विप्रतिपत्ति के संबंध में बौद्ध यावत् निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष और निखिल सविकल्पक ज्ञान को अनुमान की कोटि में रखते हैं। विषय विप्रतिपत्ति की समीक्षा करते हुए बौद्ध नैयायिकों ने प्रत्यक्ष को स्वलक्षण विषयक तथा अनुमान को सामान्यलक्षण विषयक माना है। अवधेय है कि बौद्ध नैयायिकों का स्वलक्षण न तो नैयायिकों का विशेष पदार्थ है और न हि सामान्यलक्षण उनके सामान्य पदार्थ के समतुल्य है। पुनः इस समस्या पर और अधिक गहराई से विचार करते हुए प्रत्येक प्रमाण के ग्राह्य–विषय और अध्यवससेय–विषय का अंतर किया गया है। भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन में बौद्ध नैयायिकों का यह विचार बिल्कुल ही अभिनव प्रकार का है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण है लेकिन उसका अध्यवसेय सामान्यलक्षण होता है। उसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण है लेकिन उसका अध्यवसेय स्वलक्षण होता है। फलविषयक विप्रपतिपत्ति के संबंध में भी बौद्ध नैयायिकों का विचार अत्यंत ही मौलिक है। बौद्धेत्तर सभी दर्शनों में जहाँ प्रमाण और प्रमाण फल के भेद को स्वीकार किया गया है वहीं एक मात्र बौद्ध नैयायिक ही प्रमाण और प्रमाण–फल में अभेद की स्थापना करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध न्याय में प्रमाणमीमांसा के आधारभूत प्रश्नों पर आरम्भ से ही बिलकुल अलग दृष्टिकोण अपनाया गया है इन प्रश्नों को लेकर बौद्धेत्तर दर्शनों के बीच भी कम मतभेद नहीं रहे हैं लेकिन बौद्ध नैयायिकों के एतद्विषयक अन्यव्यावर्तक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जाने से भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय मतभेदों को और अधिक स्पष्टता प्राप्त हुई है। इसके परिणाम स्वरूप प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में नये–नये प्रश्नों की उद्‌भावना हुई और उनके उत्तर के प्रयास में वैकल्पिक सैद्धान्तिक निर्धारणों का विकास हुआ है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दिग्नांगोत्तर काल में भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन अधिक संगठित और योजनाबद्ध रूप में सामने आया है। इस योजनाबद्धता के चलते ही कुछ प्रमाणमीमांसीय सिद्धांत दार्शनिक संप्रदायों की संप्रदाय केन्द्रित निष्ठा से ऊपर अपनी स्वायत्तता को स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं।

2. प्रमाणान्तर्भाव का बीजारोपण

भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाव की अवधारणा का बीजारोपण दिग्नांग के पूर्व नागार्जुन (बौद्ध) द्वारा किया हुआ माना जा सकता है। भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के विपरीत 'मेयाधीनामानसिद्धिः' की दार्शनिक सूझ बौद्ध नैयायिकों ने प्रस्तावित की है। दिग्नांग के पूर्व बौद्ध दर्शन में इतिविषयक एक उहापोहात्मक स्थिति के संकेत मिलते हैं। विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्रम् में नागार्जुन ने 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के संभव विकल्पों का बलपूर्वक खंडन किया है। उन्होनें अपने खंडन में अन्य विकल्पों को उद्‌भावित करते हुए 'मेयाधीनामानसिद्धिः' को भी चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय का ग्रास बना दिया है।[9] ध्यातव्य है कि नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्र में न्यायसूत्र को पूर्वपक्ष बनाया है और न्यायसम्मत 'मानाधीनामेयसिद्धिः' का खंडन करते हुए उसके विकल्प रूप में ही 'मेयाधीनामानसिद्धिः' के पक्ष को उपस्थापित किया है और यहाँ उनका उद्‌देश्य वस्तुतः नैयायिकों के पक्ष में स्वज्ञान–व्याघाती विकल्प प्रस्तुत करना था न कि मेयाधीनामानसिद्धिः को स्वतंत्र पक्ष बनाकर उसका खंडन करना। इसलिए इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि नागार्जुन को 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का मत स्वीकार था। नागार्जुन की तो कोई स्वमत प्रतिज्ञा ही नहीं है। किसी भी मत में स्वगत अन्तर्विरोध दिखाना ही नागार्जुन की विचार–प्रक्रिया है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैसे ह्यूम ने अपनी समीक्षा से काण्ट को अंधविश्वास की तंद्रा से जगाकर मानवीय ज्ञान के स्वरूप और सीमा पर बिल्कुल नये ढंग से सोचने के लिए प्रेरित किया था उसी प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों को तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा के अभिनव संरचना की मूल प्रेरणा नागार्जुन से ही प्राप्त हुई होगी।[10]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नागार्जुनोत्तर काल भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन के विकास की दृष्टि से ऐतिहासिक और दार्शनिक महत्व का है। इस काल में दिग्नांग धर्मकीर्ति आदि बौद्धों पर नागार्जुन के आक्षेपों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा तभी तो दिग्नांग–धर्मकीर्ति अपने प्रमाणमीमांसीय चिंतन की रूपरेखा बनाते समय नागार्जुन के आक्षेपों के प्रति सतर्क रहे हैं और साथ ही उससे बचने का हर सम्भव प्रयास कई स्तरों पर किया। दिग्नांग–धर्मकीर्ति के प्रमाणमीमांसीय चिंतन का निहितार्थ केवल बौद्ध सम्मत प्रमाणशास्त्र का विकास करना ही नहीं था बल्कि ब्राम्हण दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय संरचनाओं का खण्डन करते हुए एक ऐसी संशेधनात्मक प्रमाणमीमांसा का ढांचा भी तैयार करना था जो नागार्जुन के संदेहवादी प्रकार और विस्थापक प्रकृति के आक्षेपों से यथासंभव मुक्त भी हो।

अवधेय है कि नागार्जुनकृत प्रमाण–प्रमेय परीक्षा का ऐतिहासिक पूर्वपक्ष नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा रही है जिसकी मूलभूत मान्यता 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितः' है।[10] नागार्जुन ने इसका खण्डन चारों तरफ से घेरकर किया है। नैयायिकों के 'मानाधीना मेयसिद्धिः' की परीक्षा करते हुए जहाँ प्रतिविकल्प के रूप में प्रमेय से प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उठाया गया है वहाँ भी इस विकल्प की दोषयुक्तता इस रूप में प्रदर्शित की गई है कि लोकबुद्धि में साधन (प्रमाण) से साध्य (प्रमेय) की सिद्धि मान्य है, साध्य से साधन की नहीं। अर्थात् 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का निराकरण[11] वास्तव में "मानाधीना मेयसिद्धिः" का ही खण्डन करने के लिए किया गया है, स्वतंत्र रूप से नहीं। इसलिए बौद्ध नैयायिक "मेयाधीनामानसिद्धिः" को ही मूलभूत मान्यता बनाकर अपनी प्रमाणमीमांसा को खड़ा करने का प्रयास करते हैं। नागार्जुन के चक्रव्यूह से निकलने का सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग भी यही हो सकता था।

इस प्रकार नैयायिकों की सर्वतंत्र स्वतंत्र मानी जाने वाली 'मानाधीना मयेसिद्धिः' की अवधारणा और नागार्जुन द्वारा उसकी प्रसज्य–प्रतिषेधवादी समीक्षा से निकला हुआ बौद्ध नैयायिकों का प्रमाणमीमांसीय चिंतन एक नवीन प्रस्थान है। इसे हम 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा' का प्रस्थान कह सकते हैं। इसके चलते प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय, फल एवं विनियोग संबंधी प्रश्नों एवं निष्कर्षों में भारी फेरबदल हुआ है। इस प्रस्थान ने अपनी संशोधनात्मक (नैयायिकों के संदर्भ में) एवं पुनर्रचनात्मक (नागार्जुन के संदर्भ में) प्रकृति में पूरे भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन को आंदोलित किया है। वस्तुतः भारतीय परंपरा में प्रमाणशास्त्रीय चिंतन को इस नई दिशा में विकसति करने का संपूर्ण श्रेय दिग्नांग को जाता है। नागार्जुन और दिग्नांग–धर्मकीर्ति आदि के इस योगदान को देखते हुए अगर हम यह कहें कि भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाव की अवधारणा का बीजारोपण वास्तव में नागार्जुन ने किया और नागार्जुनी परीक्षा के परिणाम स्वरूप भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन में उत्पन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रमाणन्तर्भाव को पुषपित एवं पल्लवित करने का कार्य दिग्नांग ने किया तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

नागार्जुन द्वारा प्रदर्शित रास्ते पर चलकर दिग्नांग ने ब्राम्हण दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय संस्थापनाओं का खण्डन करते हुए जिस प्रकार का संशोध्नात्मक ढांचा प्रस्तुत किया उसके परिणाम स्वरूप ही संपूर्ण भारतीय दर्शन में स्वयं के द्वारा स्वीकार किये गये प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य दर्शन के प्रमाणों के खंडन–मण्डन का सिलसिला प्रारंभ होता है और प्रमाणों के इस खण्डन–मण्डन के सिल सिले की परिणति के रूप में ही भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाव के प्रकरण का उदय होता है। इस प्रकार दिग्नांग से आरंभ हुए 'न्याय–बौद्ध–वाद–विवाद' की रूप–रेखा से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतीय दर्शन के क्षितिज पर दिग्नांग का उदय किस प्रकार से एक उपष्टम्मक की भूमिका में होता है। साथ ही साथ 'प्रमाण समुच्चय' ग्रंथ की प्रभावमत्ता कितनी अधिक रही होगी कि उसके बाद न्याय और मीमांसा दर्शन के अधिकांश आकार ग्रंथ संकल्प पूर्वक उसकी प्रतिक्रया में प्रणीत हुए हैं। भाष्य, वार्त्तिक एवं टीका ग्रंथों की परम्परा में अपनी स्वयत्तता होती है, लेकिन दो परम्पराओं में ऐसे ग्रंथों का प्रतिक्रियात्मक प्रणयन पूर्वपक्ष की परस्पर शक्तिमत्ता को ही द्योतित करता है। इससे इस बात पर भी पर्याप्त रूप से प्रकाश पड़ता है कि वाद–विवाद के इस ऐतिहासिक प्रकरण ने भारतीय दर्शन के सपूंर्ण विकास को समेकित और सम्पोष्य रूप से प्रभावित किया है।

3. प्रमाणान्तर्भाव का प्रभाव

प्रमाणान्तर्भाव के प्रभाव की दृष्टि से यदि नागार्जुन के प्रभावों को दूरवर्ती रूप से रेखांकित करने का प्रयास किया जाए तो इस संदर्भ में दो–तीन महत्वपर्ण बातें कही जा सकती हैं। इसमें पहला तो यह कि नागार्जुनोत्तर काल में विवर्त्तवादी दार्शनिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है। इसे योगाचार के विज्ञानाद्वैत, वैयाकरणों के शब्दाद्वैत और अद्वैत वेदांत के ब्रम्हाद्वैत के विकास में देखा जा सकता है। यह सम्भव है कि इन दर्शनों की विवर्तवादी प्रवृत्तियों को नागार्जुन से ही प्रेरणा प्राप्त हुई हो। दूसरा यह कि नागार्जुन की खण्डनात्मक शैली से प्रेरणा पाकर परवर्ती काल में दो प्रकार की वैतण्डिक पद्धतियों का जन्म हुआ, जिसके पुरस्कर्त्ता जयराशि भट्ट और श्रीहर्ष माने जा सकते हैं। यह बात अलग है कि दानों ने इसका विनियोग अपनी–अपनी सांप्रदायिक निष्ठा के अंतर्गत किया है तथापि तीनों के बीच पद्धतिमूलक समानता की अनदेखी नहीं की जा सकती है। तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि नागार्जुनोत्तर काल में प्रमाणमीमांसीय चिंतन के क्षेत्र में आमूल पुनःरचना की आवश्यकता महसूस की गई, क्योंकि 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणद्वि' की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सर्वतंत्र स्वतंत्र समझी जाने वाली प्रमाणमीमांसा का नागार्जुन के द्वारा विग्रहव्यावर्त्तनी और वैदल्यसूत्र में जिस तरह से खंडन किया गया है उससे प्रमाणमीमांसा पर आगे विचार करने के सारे रास्ते एक तरह से अवरूद्ध हो गये थे। नागार्जुनोत्तर काल में प्रमाणमीमांसा के पुनरोद्धार का प्रश्न भारतीय दर्शन के इतिहास में एक अत्यंत अहं प्रश्न है। वास्तव में देखा जाय तो नागार्जुन के सर्वसंहारक पूर्पपक्ष से दिग्नांग की बौद्धपक्षीय रचनात्मक भूमिका इसी प्रश्न के आगे प्रसूत होती है।

दिग्नांग के पूर्व बौद्ध प्रमाणशास्त्र की कोई स्पष्ट रूपरेखा स्थापित नहीं हुई थी। अज्ञात कर्तृक 'तर्कशास्त्र' एवं 'उपायहृदय' तथा असंगकृत 'योगाचारभूमि' और वसुबन्धुकृत 'वादविधि' नामक ग्रंथों में प्रमाण विषयक जो बीज–प्रत्यय प्राप्त होते हैं, उन्हें वाद–परम्परा से संबंधित चिंतन कहा जा सकता है। यह न्यूनाधिक रूप से उसी प्रकार का चिंतन है जैसा कि ब्राम्हण परम्परा में मनु, कोटिल्य और चरक इत्यादि में वाद–विधि से संबंधित विचार मिलते हैं। इसे एक साधारण कोटि का तर्कशास्त्रीय चिंतन कहना अनुचित नहीं होगा जिसका विकास ब्राम्हण एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में पहले हुआ और बाद में प्रमाणशास्त्र का सम्यक् विकास हुआ है।

दिग्नांग वह पहला व्यक्ति है जिसने बौद्ध सम्मत प्रमाणमीमांसा की परिच्छेदित रूपरेखा बनायी और उसे अन्यव्यावृत्त स्वायत्तता में स्थापित करने का प्रयास किया है। एक ओर दिग्नांग के समक्ष नैयायिकों का समृद्धप्रमाणमीमांसीय चिंतन लंबित था तो दूसरी ओर नैयायिकों को सम्मिलित करते हुए प्रमाणमीमांसा मात्र को लक्ष्य करने वाला नागार्जुन का अत्यंत विस्थापक पूर्वपक्ष। नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा आत्मवाद और स्थैर्यवाद का पोषग्ण करती है और नागार्जुन की समीक्षा समस्त प्रमाण–व्यापार को सांवृत्तिक भूमिका तक सीमित कर देती है। इसलिए दिग्नांग ने 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा' को अपना स्वयुथ्य पक्ष बनाया और उसे अनात्मवाद तथा क्षणिकवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। ऐसा करते हुए दिग्नांगीय प्रमाणर्मीमांसा एक ओर नैयायिकों के 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के विरोध में खड़ी होती है तो दूसरी ओर नागार्जुन द्वारा 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के चतुर्दिक खण्डन का उचित विकल्प प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार भारतीय दार्शनिक चिंतन में दिग्नांग से प्रमाणमीमांसा के एक नवीन प्रस्थान का प्रारंभ होता है। इसे प्रमाणशास्त्र के गौतमीय प्रस्थान के समानान्तर 'बौद्धप्रस्थान' कहा जाना अधिक उचित होगा। दिग्नांगोत्त्तर काल में न्याय–बौद्ध–संघर्ष के परिणामस्वरूप इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। बौद्ध परंपरा में इसको विज्ञानवाद के नाम से जाना जाता है। यह स्वाभाविक है कि इनका प्रमाणमीमांसीय चिंतन प्रथम दृष्टया इनकी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि में मूलित है परंतु लाघव दृष्टि से इसे बौद्ध दर्शन के सभी संप्रदायों के लिए, थोड़े बहुत मतभेदों के साथ, उपादेय कहा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नैयायिकों की सर्वतंत्र स्वतंत्र मानी जाने वाली 'मानाधीना मयेसिद्धिः' की अवधारणा और नागार्जुन द्वारा उसकी प्रसज्य–प्रतिषेधवादी समीक्षा से निकला हुआ बौद्ध नैयायिकों का प्रमाणमीमांसीय चिंतन एक नवीन प्रस्थान है। इसे हम 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा' का प्रस्थान कह सकते हैं। इसके चलते प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय, फल एवं विनियोग संबंधी प्रश्नों एवं निष्कर्षों में भारी फेरबदल हुआ है। इस प्रस्थान ने अपनी संशोधनात्म (नैयायिकों के संदर्भ में) एवं पुनर्रचनात्मक (नागार्जुन के संदर्भ में) प्रकृति में पूरे भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन को आंदोलित किया है। वस्तुतः भारतीय परंपरा में प्रमाणशास्त्रीय चिंतन को इस नई दिशा में विकसित करने का संपूर्ण श्रेय दिग्नांग को जाता है। आचार्य दिग्नांग अपने प्रमाणसमुच्चय में 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाण–मीमांसा' को प्रस्तावित करते हुए कहते हैं कि सिद्ध प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणों के दो ही प्रकार हैं। ये दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। इनके अतिरिक्त अन्य किसी को स्वतंत्र प्रमाण का दर्जा प्रदान नहीं किया जा सकता है।[14]

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं द्वि द्विलक्षणम।
प्रमेयस्तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत्।

वस्तुतः बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि प्रत्यक्ष और अनुमानजन्य ज्ञान अर्थ से अव्यभिचरित होने के कारण क्रमशः अज्ञातार्थ–प्रकाशक और अविसंवादी होते हैं। इनके अर्थ से अव्यभिचारित्व की सिद्धि प्रत्यक्षत्व और अनुमानत्व धर्मों के द्वारा होती है। शब्दत्व इत्यादि अन्य धर्म वास्तव में अर्थ से अव्यभिचारित्व के प्रयोजक नहीं हो सकते, क्योंकि शब्दी ज्ञान का अर्थ से कोई तात्त्विक निबंधन नहीं होता। ऐसा इसलिए कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक प्रमेय पदार्थों के दो ही प्रकार हैं। प्रमाणमीमांसीय उपागम में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा गृहीत होते हैं। दिग्नांग के इस प्रस्ताव को 'प्रमेयान्तर्भाव एवं प्रमाणान्तर्भाव' की एक व्यापक अवधारणात्मक योजना के रूप में देखा जा सकता है।

संदर्भ

1. तथा द्वि वैयाकरणो ब्रूते प्रत्यक्षं शाब्दं चेति प्रमाणद्वयम्।
   मोक्षाकर गुप्त, बौद्ध–तर्कभाषा, सं–डॉ० रघुनाथगिरि, वाराणसीः प्राच्य प्रकाशन, 1969, पृ–91
2. त्रिविधं प्रमाणं–प्रत्यक्षमनुमानमागम इति।
   भासर्वज्ञ, न्यायसार, सं–स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1968, पृ–78
3. मानसोउल्लास, अध्याय 2.20
4. द्रष्टव्य, गौतम, न्यायसूत्र, 2।2।1 से 2।2।12

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

5. न्यायसूत्र, 2 ।2 ।2
6. धर्मोत्तर प्रदीप (पण्डित दलसुखभाई मलवणिया) पृ–35 के.पी. जायसवाल इनस्टी–पटना
7. अकलंक–प्रमाणान्तर्भाव, सम्पा. एस.सी. न्यायाचार्य, दि एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता, 1969, पृ–1 ।
8. वात्स्यायन न्यायभाष्य 1 ।1 ।3 प्रमातुः प्रमातव्येअर्थे प्रमाणानां सम्भवोअभिसम्पलवः असम्भवौ व्यवस्थेति ।
9. डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा–बौद्ध प्रमाणदर्शन, विश्वविद्यालय प्रकाशन सागर 2007 पृ–50
10. डॉ0 अम्बिकादत्त शर्मा का निबंध–" वैदल्यसूत्र एवं न्यायसूत्र के अन्तःसंबंध'पर कुछ विचार ।' समाज धर्म एवं दर्शन, वर्ष 18.2 भुवनेश्वरी प्रतिष्ठान, इलाहाबाद ।
11. नागार्जुन–विग्रहव्यावर्त्तनी–43 सिद्धयन्ति हि प्रमेयाप्यपेक्ष्य यदि सर्वथा प्रमाणानि भवति प्रमेय सिद्धिर्नाविक्ष्यैव प्रमाणानि ।
12. डॉ0 अम्बिकादत्त शर्मा–बौद्ध प्रमाणदर्शन, विश्वविद्यालय प्रकाशन सागर 2007, टिप्पणी 9 पृ–26
13. प्रमाणवार्तिक–2 ।398 तथा इस पर मनोरथ नन्दी की टीका, डॉ0 अम्बिकादत्त शर्मा, बौद्ध प्रमाणदर्शन विश्वविद्यालय प्रकाशन सागर 2007, टिप्पणी 9 पृ–26
14. दिग्नांग–प्रमाणसमुच्चय–1 ।2 (अयंगर द्वारा सम्पादित एवं पुनः रचित)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - IV

शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव

भारतीय परंपरा में चार्वाक, बौद्ध तथा वैशेषिकों के अतिरिक्त सर्वत्र 'शब्द' को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया गया है। ज्ञान के क्षेत्र में शब्द का वहुत बड़ा महत्व है क्योंकि जिस काल में लिपि और छापेखाने का अविष्कार नहीं हुआ था उस काल में भी शब्द के माध्यम से प्रवर्तित ज्ञानराशि अलिखित रूप में ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती थी। भारतीय दर्शन में स्वीकार किये गये सारे प्रमाणों में शब्द की विशिष्ट स्थिति है। शब्द को प्रामाणिक ज्ञान के सबसे प्रमुख स्रोत के रूप में स्वीकार करना और तदनुरूप प्रमाणमीमांसा की संरचना करना भारतीय दार्शनिकों की अपनी विशेषता है। भारतीय दर्शन की आस्तिक परंपरा में न्याय, मीमांसा तथा वेदांत मत में शब्द प्रमाण का निरूपण विस्तारपूर्वक किया जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'शब्द' ध्वनि का पर्याय है। जन सामान्य की दृष्टि में जिससे अर्थ का बोध हो वह 'शब्द' है। किन्तु वैयाकरणों की दृष्टि से शब्द को पद कहते हैं। ज्ञान के साधनों के प्रसंग में 'शब्द' को एक प्रमाण माना गया है। लेकिन कुछ भारतीय दार्शनिक संप्रदायों ने शब्द की स्वतंत्रा प्रामाणिकता का खंडन करके इसका अन्य प्रमाणों में अंतर्भाव दिखलाया है।

1. न्यायमत में शब्दप्रमाण

न्याय प्रमाण मीमांसा में प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान के अनन्तर शब्द प्रमाण का निरूपण किया गया है।[2] इस प्रकार न्यायशास्त्र में शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। प्रमाण के रूप में शब्द की परिभाषा करते हुए महर्षि गौतम का कहना है कि आप्त का उपदेश ही शब्द है।[3] तर्कभाषाकार केशव मिश्र के अनुसार भी शब्द आप्त वाक्य है।[4] लेकिन आप्त कौन है और उसका वाक्य या उपदेश क्या है, जिसे शब्द प्रमाण माना जाता है। न्साधारणतः 'उपदेश' शब्द का अर्थ है–कहा गया अथवा निर्दिष्ट। इस प्रकार आप्तोपदेशः शब्द का अर्थ है–'आप्त पुरुष के द्वारा कहे गये वाक्य शब्द प्रमाण हैं। स्पष्टतः इससे शब्द ज्ञान की यह विलक्षणता स्पष्ट होती है कि शब्द प्रमाण का अनिवार्य लक्षण 'वाचकता' है। अपने इसी वाचक अर्थ में शब्द प्रमाण प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भिन्न है। प्रत्यक्षादि अन्य प्रमा अथवा प्रमाण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाचकता के गुण (शब्द के माध्यम से व्यक्त किए जाने के योग्य) से रहित अथवा वाचकता गुण सहित भी हो सकते हैं। जबकि शब्द ज्ञान की अनिवार्य उपाधि यह है कि वह भाषा में व्यक्त किए जाने की योग्यता रखता है। उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में स्पष्ट लिखा है कि शब्दोल्लेख से युक्त होना ही शब्द प्रमाण की विशेषता है।[5]

जयंत मिश्र के अनुसार शब्द ज्ञान सदैव हस्तांतरणीय अथवा अभिव्यक्ति के गुण से युक्त होता है। यहाँ पर 'अभिव्यक्ति' एक क्रिया है जो श्रोता और वक्ता के बीच सम्पन्न होती है। इसी अर्थ में शब्द ज्ञान के लिए वक्ता तथा श्रोता, उपदेशक तथा उपदेष्टा दोनों की आवश्यकता है। वह शब्द अथवा वाक्य जिसका कोई श्रोता नहीं है, शब्द प्रमाण की कोटि में नहीं आता है। श्रोता और वक्ता दोनों के उपस्थित होने पर भी यदि वाक्य का अर्थ श्रोता तक संक्रमित नहीं होता तो वाक्य को 'शब्द प्रमाण' की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसलिए 'शब्द' की अपेक्षा 'शब्दार्थज्ञान' को ही 'शब्द प्रमाण' की संज्ञा दी जाती है। साधारणतः शब्द ज्ञान ध्वनिमूलक होता है। इस अर्थ में शब्द ज्ञान श्रवण ज्ञान है। जयंत मिश्र के अनुसार ध्वन्यात्मकता शब्द ज्ञान का अवियोज्य विशेषण है। वस्तुतः शब्द एक प्रकार के संकेत हैं, जैसे धूम्र अग्नि का संकेत है। किन्तु शब्द संकेत धूम्रादि संकेतों से इस अर्थ में भिन्न है कि धूमादि अथवा अनुमान के लिंग के लिए ध्वन्यात्मकता अनिवार्य नहीं, जबकि शब्द संकेत ध्वनिमूलक होते हैं। इसीलिए धूम्र को शब्द नहीं कहा जाता।[6] विशेष स्थितियों में शब्द दृश्य तथा स्मृतिमूलक भी होता है। उदाहरणार्थ लिखे गए शब्द दृश्यमूलक शब्द ज्ञान प्रस्तुत करते हैं। बहुधा मनुष्य लिपि को देखकर वाक्य का मानसिक उच्चारण किए बिना भी वाक्य का स्मरण करते हैं और वाक्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वस्तुतः 'उपदेश' पद का वास्तविक अर्थ उसकी ध्वन्यात्मकता की अपेक्षा वाक्यार्थ के संग्रहण में निहित है। गंगेशोपाध्याय का कहना है कि वाक्यार्थ ज्ञान ही शब्द प्रमाण है।[7] श्री केशव मिश्र ने भी 'उपदेश' को छोड़ दिया है। उनके अनुसार आप्त वाक्य ही शब्द प्रमाण है।[8] इसी प्रकार अन्न भट्ट ने भी आप्तवाक्य को ही शब्द प्रमाण माना है।[9]

वस्तुतः शब्द प्रमाण के संदर्भ में जिन अनुषंगिक विषयों की चर्चा होती है, वे सभी वाक्य से ही सम्बद्ध हैं। अतः आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण कहना उचित है। वाक्य का अर्थ आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि, और तात्पर्य से युक्त पदों का समूह है। इस प्रकार ऐसे पदों का समूह शब्द प्रमाण होता है, जो यथार्थ, उपदेश करने वाले पुरुष से उच्चरित, परस्पराकांक्ष, परस्पर अन्वय योग्य अर्थों के प्रतिपादक और परस्पर सन्निहित होते हैं। उदाहरणार्थ चंदन में सुगंध है। यह यथाभूत अर्थ के उपदेष्टा से उच्चरित है, अतः आप्त है। इस वाक्य के पदों में परस्पराकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य है। अतः यह वाक्य शब्द प्रमाण है। शब्द ज्ञान आप्त के प्रत्यक्ष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर आधारित होते हुए भी मूलतः प्रत्यक्ष से भिन्न है। वह भिन्नता इस अर्थ में है कि यह ज्ञान उपदेशक के प्रत्यक्ष पर आधारित होता है, उपदेष्टा के प्रत्यक्ष पर नहीं। उपदेष्टा, जो शब्द ज्ञान का ग्राहक है उसके लिए शब्द ज्ञान वाक्यार्थ बोध है न कि प्रत्यक्ष द्वारा विषय बोध। न्यायदर्शन मानता है कि आप्त वचन होने के कारण ही शब्द ज्ञान एतिह्य से भिन्न है। एतिह्य अथवा लोक परम्परा से प्राप्त ज्ञान भी एक प्रकार का उपदेश जनित ज्ञान ही है किन्तु लोक परंपरा से प्राप्त ज्ञान अथवा एतिह्य आप्त वचन नहीं होता।[10]

भासर्वज्ञ ने कुछ भिन्नता के साथ शब्द प्रमाण का लक्षण किया है। उनके मत को स्पष्ट करते हुए न्यायसार के टीकाकार देव सूरी कहते हैं कि सम्यक् यानि संशय आदि से विलक्षण ज्ञान के चेष्टा लिपि, अक्षर आदि समेत शब्दात्मक या अशब्दात्मक जितने साधन हैं, वे आगम यानि शब्द प्रमाण हैं। लेकिन गंगेश तथा उनके अनुयायियों ने आप्तता के विचार को अस्वाभाविक मानकर उसको छोड़ दिया। वे वाक्यार्थज्ञान को शब्द प्रमाण बताते हैं। वाक्यार्थ ज्ञान से उनका आशय है—वाक्य के अंतर्गत पद समूह का स्मरणात्मक ज्ञान।[11] केशव मिश्र और अन्नं भट्ट जैसे उत्तरवर्ती नैयायिकों ने शब्द प्रमाण की परिभाषा में कुछ परिवर्तन कर दिया। उन्होनें 'उपदेश' के स्थान पर वाक्य का प्रयोग कर आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण माना।[12]

2. जैन दर्शन में शब्द प्रमाण

जैन दर्शन में श्रुत ज्ञान या शब्द ज्ञान को आगम कहा गया है और इसको पृथक् प्रमाण माना गया है। जैनाचार्य उमास्वाति ने यथार्थ के अभिधान को शब्द कहा है।[13] जबकि सिद्धसेन, दिवाकर, माण्क्यिनंदी, देवसूरि, प्रभाचंद्र, यशोविजय आदि ने शब्द प्रमाण के लक्षण में 'आप्त' शब्द को भी समाविष्ट किया। जैनाचार्यों के अनुसार मोह, राग, द्वेष आदि शंकाओं से रहित व्यक्ति ही आप्त होता है।[15] प्रभाचंद्र तथा देवसूरि के अनुसार आगम के दो रूप हैं—(क) अलौकिक यानि तीर्थंकरों के कथन और (ख) लौकिक यानि रागद्वेष रहित व्यक्तियों के वचन। हेमचंद्र ने शब्दज्ञान दो प्रकार का बतलाया है—दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक। 'दृष्टार्थक' का संबंध लोक से और 'अदृष्टार्थक' का संबंध परलोक से होता है। यह ज्ञातव्य है कि जैन अदृष्टार्थक शब्द में वेदों का परिगमन नहीं करते। वे अर्हत् के कथनों को ही प्रमाण मानते हैं, जबकि नैयायिक वेदों को पौरुषेय मानते हुए भी उनको आप्त वचन मानते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन भी सामान्य रीति से प्रत्यक्ष और अनुमान के समान आगम या शब्द को भी स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। जैनाचार्य यशोविजय का भी यही मत है कि आगम व्याप्ति निरपेक्ष होने के कारण अनुमान में अंतर्भूत नहीं होता। जैन आगम में प्रतिपादित सत्य जैन दर्शन की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूलभित्ति है, पर जैन लोग ब्राम्हणशास्त्र, श्रुति तथा स्मृति की प्रामाणिकता को अनेक दोषों के विद्यमान होने से मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

3. सांख्य दर्शन में शब्द प्रमाण

सांख्य दर्शन में तीसरे प्रमाण के रूप में शब्द को माना गया है। आप्त वचन को सांख्य दर्शन में शब्द प्रमाण कहते हैं। सांख्य सूत्रकार के अनुसार 'आप्तोपदेश' शब्द है। इस प्रकार शब्द प्रमाण के संबंध में सांख्याचार्यों के कथन लगभग वैसे ही हैं, जैसे कि नैयायिकों के, किन्तु आप्त जैसे शब्दों की व्याख्या में कुछ अंतर है। सांख्य सूत्रकार के अनुसार 'आप्तोपदेश' शब्द है, किन्तु आप्त का अर्थ है आप्ति से युक्त होना है। आप्ति का तात्पर्य है–योग्यता और उपदेश का आशय है–यथाभूत पदार्थ का निर्दोष कथन। इस परिभाषा का विश्लेषण करते हुए उत्तरवर्ती भाष्यकारों ने यह कहा है कि जो व्यक्ति वस्तुओं का साक्षात ग्रहण करके उनका यथार्थ ज्ञान कराता है, वह उस विषय में आप्त कहलाता है। ऐसे व्यक्ति का उपदेश ही संदर्भगत विषय में शब्द प्रमाण माना जाता है। ईश्वर कृष्ण ने विश्वसनीय वचन को आप्त वाक्य कहा है।

युक्तिदीपिका में आप्तवचन (शब्द प्रमाण) का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि "प्रमाणभूत शब्द के द्वारा अत्यन्त परोक्ष विषय के संबंध में जो निश्चय ज्ञान दे वह आप्तवचन है।" युक्तिदीपिका का कथन है कि हम व्यवहार में आने वाले वृक्षादि शब्दों को आगम नहीं कहते किन्तु अत्यन्तपरोक्ष विषय को बतलाने वाले स्वर्गादि शब्दों को ही आगम कहते हैं और अत्यन्तपरोक्ष होने से उनमें अन्वय व्यतिरेक संभव नहीं। यदि सभी शब्दों को आगम मान भी लिया जाय तो भी आगम अनुमान से भिन्न है क्योंकि आगम में वक्तृविशेष (आप्तपुरुष) की अपेक्षा होती है किन्तु अनुमान में ऐसी अपेक्षा नहीं रहती। अतः शब्दप्रमाण लिंग या अनुमान से भिन्न है।

पुनश्च शब्द में देशविपर्यय देखा जाता है किन्तु लिंग में नहीं। अतः लिंग से शब्द में वैधर्म्य है। जैसे शवधातु गति अर्थ में कम्बोज देश में ही प्रयुक्त होता है और प्राच्य देश में रंह धातु का प्रयोग उसी अर्थ में होता है जबकि धूमत्व हेतु सभी देश में अग्नि के सहचारी के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, किसी देश में जल के सहचारी के रूप में नहीं। अतः शब्द लिंग से भिन्न है। इच्छानुसार विनियोग होने से भी शब्द लिंग नहीं है, क्योंकि लिंग स्वाभाविक होता है। ऐसा नहीं होता कि धूम को अग्नि से अलग कर जल में, आकाश में या अन्यत्र कहीं निवेशित किया जा सके जबकि शब्द तो जहाँ–जहाँ वक्ता का अभिप्राय होता है वहाँ–वहाँ निवेशित कर दिया जाता है।

युक्तिदीपिका में नाना शिल्प में अभियुक्त, शिष्टजनों एवं शुद्ध मन वाले आप्तपुरुषों के वचन को भी शब्द प्रमाण माना गया है वहाँ वाचस्पतिमिश्र केवल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेदवाक्यों को ही शब्द प्रमाण के अंतर्गत मानते प्रतीत होते हैं क्योंकि वेद स्वतः प्रामाण्य हैं। उन्होनें स्मृति, वेदांग, इतिहास–पुराणादि के वचनों को शब्द प्रमाण इसलिए माना कि इनका मूल वेदों में है। तर्कतः उन्होंने कपिल के ज्ञान को भी पूर्वकल्प में 'वेदाध्ययन' का स्मरण बताया। लक्षणगत 'आप्त' पद के ग्रहण से उन्होंने बौद्ध भिक्षु, जैन, चार्वाक, आदि अनाप्तों के आगम–सदृश प्रतीत होने वाले असत् वचनों का बहिष्कार माना। किन्तु यदि श्रुतिप्रमाण को आप्तवाक्य माना जाय तो आप्तत्व जिस भी व्यक्ति में हो वे सभी आप्त कहलायेंगे तो ऐसी स्थिति में सभी आप्तजनों के वाक्य प्रमाण रूप होंगे, किन्तु यदि कपिल, हिरण्यगर्भ, गौतम, कणाद जैमिनी, शंकर, बुद्ध, महावीर सभी यदि आप्तपुरुष हैं तो उनमें तत्त्व के स्वरूप को लेकर मतभेद नहीं होना चाहिए। कुमारिल कहते हैं कि आप्त होने से यदि सुगत (भगवान बुद्ध) सर्वज्ञ हैं तो कपिल सर्वज्ञ नहीं है इसमें क्या प्रमाण है अर्थात् वह भी सर्वज्ञ हैं और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं तो उनमें मतभेद क्यों? इसलिए कुमारिल कहते हैं कि अतीन्द्रिय तत्त्वों का साक्षात् द्रष्टा कोई नहीं है उनका ज्ञान केवल श्रुति से ही संभव है।[19]

सुगतो यदि सर्वज्ञो कपिलो नास्ति का प्रमा।
उभौ अपि यदि सर्वज्ञौ मतभेदः तयो कथम्।।
तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षात् द्रष्टा न विद्यते।
वचनेन तु नित्येन यः पश्यति स पश्यति।।

इसीप्रकार अनिरूद्ध[20] भी कहते हैं कि "आकाश से महान राक्षस उतरते हैं–"ऐसी युक्तिहीन वाणी को आप्तवचन होने से भी प्रमाण नहीं मानना चाहिए। वास्तव में आप्तत्व का निर्धारण बहुत कठिन है। पुनश्च यदि 'श्रुति' का अर्थ वेद है तो श्रुतिप्रमाण को मानकर सांख्य बौद्धिक युक्तियों से सिद्ध अपने सिद्धांतों को वेदानुकूल दिखा सकते हैं किन्तु सांख्य–तत्त्वमीमांसा के सामान्यस्वरूप को देखने से लगता है कि जिन तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान से निःश्रेयसरूप कैवल्य की प्राप्ति होती है वे सभी अनुमान से सिद्ध हैं और सांख्य कभी भी अपने सिद्धांतों की सिद्धि के लिए श्रुति का सहारा नहीं लेता।

प्रमाणों के विषयों का निरूपण करते हुये ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होता है और जिन पदार्थों का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट से भी नहीं होता और वे परोक्ष हैं, ऐसे पदार्थ आगम प्रमाण से जाने जाते हैं।[21] प्रमेयों की सिद्धि के लिए ही प्रमाणों की आवश्यकता को सूत्रकार ने बताया है और सांख्य में व्यक्त (महदादि तेइस तत्त्व), अव्यक्त (प्रकृति) और ज्ञ (पुरुष) ये ही पच्चीस तत्त्व प्रमेय हैं, किन्तु समस्या यह है कि इनमें से कौन–कौन प्रमेय किस प्रमाण से सिद्ध होते हैं इस विषय में व्याख्याकारों में काफी मतवैभिन्न्य पाया जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गौडपाद के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है और उनके मत में अतीन्द्रिय पदार्थ हैं—प्रधान एवं पुरुष। व्यक्त की सिद्धि प्रत्यक्ष से होती है और जो प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों से नहीं जाने जा सकते हैं और परोक्ष हैं—उनकी सिद्धि आगम से होती है, जैसे इन्द्रः देवराजः, उत्तरा कुरवः, स्वर्गेऽप्सरसः इत्यादि।[22] जयमंगला के अनुसार प्रमेय तीन प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अत्यंत परोक्ष। सामान्यतोदृष्ट अनुमान से वर्तमान अतीन्द्रिय (परोक्ष) विषयों का ज्ञान होता है और जो सामान्यतोदृष्ट से भी नहीं जाने जा सकते ऐसे स्वर्गापवर्गादि अत्यंत परोक्ष विषयों का ज्ञान आगम से होता है।[23] वाचस्पतिमिश्र के अनुसार व्यक्त (पृथ्वीआदि) का ज्ञान प्रत्यक्ष से, धूम अग्नि आदि का ज्ञान पूर्ववत् से साधारण व्यक्ति को भी हो जाता है। सामान्यतोदृष्ट एवं शेषवत से सभी अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है किन्तु कुछ अतीन्द्रिय पदार्थ ऐसे हैं जो सामान्यतोदृष्ट से भी नहीं सिद्ध हो सकते हैं जैसे महदादि तत्त्वों का आरम्भ क्रम, स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि। ऐसे पदार्थों का ज्ञान आगम प्रमाण से होता है।[24] माठर सांख्यचन्द्रिका, सुवर्णस्प्तति, सांख्यप्रवचनभाष्य में भी इसी तरह का वर्णन है।

वस्तुतः सांख्य दर्शन का मत है कि जहाँ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संभव नहीं है ऐसे परोक्ष विषयों का ज्ञान अनुमान से और जो विषय अत्यंत परोक्ष हैं और साथ ही किसी भी अनुमान द्वारा नहीं जाने जा सकते—ऐसे स्वर्गापवर्गादि विषयों का ज्ञान आगम प्रमाण से होता है। अतः त्रिविध प्रमाण की मान्यता सांख्य तत्त्वमीमांसा के सर्वथा अनुरूप है। जैसे बौद्ध दर्शन में प्रमेय (स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण) के दो होने से ही प्रमाण भी दो (प्रत्यक्ष एवं अनुमान) ही स्वीकर किये गये हैं (नानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्) वैसे ही सांख्य में भी प्रमेय (व्यक्त—अव्यक्त—ज्ञ) के तीन होने से ही प्रमाण भी तीन ही स्वीकार्य है (त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्)।

4. योग दर्शन में शब्द प्रमाण

योगदर्शन में शब्द के लिए आगम शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यासभाष्य में यह उल्लेख मिलता है कि अपने बोध का संप्रेषण करने के लिए तत्त्वज्ञानी अर्थात् यथार्थद्रष्टा आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है वह आगम प्रमाण है।[25] अन्यत्र शब्द प्रमाण का वर्णन करते हुए योगदर्शन में लिखा है कि भ्रम, प्रमाद, प्रवंचनों तथा इन्द्रियों के असामर्थ्य आदि दोषों से रहित आप्तपुरुष के शब्द को सुनकर श्रोता की जो शब्दार्थ विषयिणी चितवृत्ति बनती है, उसे आगम प्रमाण कहते हैं तदन्तर प्रतिविम्बविधया शब्दाकार वृत्ति के अभिन्न हुए पुरुष को शब्दबोध होता है, इसे शाब्दी प्रमा कहते हैं।[26] इस प्रकार स्पष्ट है कि योगमत में शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण की मान्यता प्रदान की गई है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

5. वेदांत दर्शन में शब्द प्रमाण

वेदांत मत में भी शब्द प्रमाण को आगम की संज्ञा दी गई है। वेदांत परिभाषा में आगम का निरूपण प्रमाण के चतुर्थ स्थान में अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान के अनन्तर किया गया है। आगम की परिभाषा देते हुए वेदांत परिभाषा में कहा गया है कि जिस वाक्य का तात्पर्य विषय अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता वह शब्द प्रमाण है।[27] धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार भी वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग प्रमाणान्तर से बाधित नहीं होता, वह वाक्य आगम कहलाता है। अद्वैत वेदांत दर्शन में शब्द प्रमाण अर्थात् शास्त्र प्रमाण को स्वतंत्र रूप में ज्ञान का साधन माना गया है। अगर किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा असत्यता नहीं होती हो, तो शास्त्र के सभी कथन निर्दोष प्रमाण हैं। इस प्रकार शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता को शंकर ने वेदों की प्रामाणिकता के रूप में प्रतिस्थापति किया है। शंकर ने वेदों की प्रामाणिकता को न्याय और मीमांसा के विचारों से अलग होकर सिद्ध करने का प्रयास किया है। वेद नित्य हैं और स्वतः प्रकाशित हैं, वेद की प्रामाणिकता उसी तरह से स्वयंसिद्ध है जिस प्रकार से सूरज में प्रकाश। इस प्रकार वेदांत दर्शन वेदों के माध्यम से 'शब्द' की स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापना करता है।

विशिष्टाद्वैत सिद्धांत में शब्द प्रमाण का निरूपण करते हुए कहा गया है कि श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य पदार्थ को शब्द कहा जाता है।[28] शब्दजन्य शाब्दीप्रमा का करण शब्द प्रमाण प्रत्यक्ष एवं अनुमान से व्यतिरिक्त है। शब्द के श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण शब्द प्रमाण, प्रत्यक्ष का प्रयोज्य है तथा वृद्धव्यवहारादिरूप शक्तिग्रह से प्रवृत्त होने के कारण अनुमान का भी प्रयोज्य है। शब्द का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। अतएव शब्द प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य है। उक्त प्रमाण से ग्राह्य होने वाले शब्द से ही अर्थ की प्रतीति होने के कारण शब्द प्रमाण के प्रति प्रत्यक्ष प्रमाण को उपजीव्य कहा जाता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के अनुरूप ही हरिजीवनदास ने वेदों के अपौरूषेयत्व को ध्यान में रखते हुए शब्द प्रमाण का लक्षण किया है। उनके अनुसार अनाप्त द्वारा अनुक्त वाक्य शब्द प्रमाण है।[29] शब्द प्रमाण के प्रकृत लक्षण द्वारा वैदिक एवं लौकिक उभयविध वाक्यों का शब्द प्रमाण के अंतर्गत समाहार हो जाता है। हरिजीवनदास ने अपनी मान्यता के अनुसार शब्द प्रमाण के लक्षण में नयृद्वय का निवेश करते हुए वेदप्रामाण्य की सुस्थिरता के लिए अनाप्त द्वारा अनुक्त होना, यह शब्द प्रमाण का लक्षण किया है।[30] इसी अभिप्राय से शब्द प्रमाण को विशिष्टाद्वैत मत में सत्पुरुष के द्वारा उच्चरित वाक्यजन्य ज्ञान भी कहा जाता है।[31] इसका यह गूढ़ अर्थ है कि भ्रम, प्रमाद, आलस्य, विप्रलम्भ इत्यादि दोषों से रहित होकर पुरुष द्वारा उच्चरित वाक्य ही शब्द प्रमाण की कोटि में गृहीत होता है। वस्तुतः विशिष्टाद्वैत मत में शब्द प्रमाण के लक्षणों के विषय में वेदवाक्य के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पौरुषेयापौरुषेयत्व की धारणा प्रमुख रूप से रही है। इसीलिए विशिष्टाद्वैतमत में प्रोक्त शब्द प्रमाण का लक्षण भी वैदिक एवं लौकिक उभयविध वाक्यों के प्रामाण्य के लिए चरितार्थ होता है।

6. मीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण

मीमांसक भी शब्द प्रमाण का निरूपण प्रत्यक्ष और अनुमान के अनन्तर तृतीय स्थान में करते हैं क्योंकि मीमांसा मतानुसार शब्द ज्ञान उपमानादि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है और अनुमान प्रमाण के अधिक निकट भी है। यही कारण है कि अन्य तार्किकों ने अनुमान निरूपण के पश्चात् जहाँ उपमान प्रमाण का निरूपण किया है, वहाँ मीमांसक लोग अनुमान प्रमाण के पश्चात् उपमान का निरूपण न कर शब्द प्रमाण का निरूपण करते हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार शब्द सुनने के पश्चात् शब्दार्थ संगतिग्रह हुए व्यक्ति को पदार्थ का स्मरण होने पर, उन्हीं से अज्ञात और अबाधित अर्थ विषयक जो विशिष्ट वाक्यार्थ ज्ञान होता है, उसे शाब्दी प्रमा कहते हैं और उसे कराने वाले (शब्द) को शब्द प्रमाण कहते हैं। उस शाब्दी प्रमा में पद ज्ञान कारण (साधन) है, पदार्थ–स्मृति अवान्तर व्यापार और शब्दबोध को फल माना गया है। शबर स्वामी के अनुसार शब्द से होने वाले अप्रत्यक्ष वस्तु विषयक ज्ञान को शब्द कहा जाता है। कुमारिल ने भाष्यकार के कथन का आशय यह बताया कि "शब्द प्रमाण वह कथन है, जो शब्दों का अर्थ जानने वाले श्रोता को उस तथ्य का बोध करा देता है, जो श्रोता के प्रत्यक्षण की सीमा से बाहर होता है।

शस्त्रं शब्द विज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम।[33]

शब्द प्रमाण के विषय में मीमांसकों का मत नैयायिकों से भिन्न है। नैयायिक जहाँ शाब्दी प्रमा को 'आप्त पुरुष के वचन' के रूप में परिभाषित करते हैं वहाँ मीमांसक शाब्दी प्रमा को 'वाक्यार्थ पर आधारित ज्ञान' के रूप में ही परिभाषित करते हैं। प्रभाकर के मत में शब्द विज्ञान के द्वारा आत्मा और मन के सन्निकर्ष से अदृष्ट (परोक्ष) विषयों के ज्ञान को शास्त्र (शब्द) प्रमाण कहते हैं। वैदिक वाक्यों से ही यथार्थ शब्द ज्ञान हो सकता है। इसलिए वैदिक वाक्य ही एकमात्र शब्द प्रमाण हो सकता है। उनमें भी जो विधायक (विध्यर्थक) हों, उन्हें ही शब्द प्रमाण समझना चाहिए। दर्शन मीमांसा के अनुसार शब्द दो तरह के होते हैं–1. वैदिक शब्द और 2. लौकिक शब्द।

8. चार्वाक दर्शन में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव

चार्वाक दर्शन में न तो वैदिक शब्द को प्रमाण के रूप में स्थान दिया जाता है और न लौकिक शब्द को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। चार्वाकों का कहना है कि ईश्वर को हमने देखा नहीं है अर्थात् ईश्वर का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान हमें प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता, तो फिर ईश्वर को हम एक तथ्य के रूप में मान ही कैसे सकते हैं? जब ईश्वर नहीं है, तो फिर वेद की रचना ईश्वर के द्वारा बतलाना एक तरह का भ्रम जाल फैलाना है। अतः वैदिक शब्द को प्रामाणिक ज्ञान का साधन नहीं माना जा सकता है। इस स्थिति में यदि यह कहा जाये कि लौकिक शब्दों का तो हमें प्रत्यक्ष होता है क्योंकि हमें महापुरुषों और विश्वासी लोगों की बातें सुनने को मिलती हैं और सुनना तो एक तरह का प्रत्यक्ष ही है। इसलिए कम से कम लौकिक शब्द को तो ज्ञान का साधन स्वीकार किया जाना चाहिए। लेकिन यह सब होते हुए भी चार्वाक लौकिक शब्द को ज्ञान प्राप्ति का साधन नहीं मानते। चार्वाक का कहना है कि जिस तरह अनुमान कभी–कभी सही और वास्तविक ज्ञान दिला देता है उसी तरह से शब्द से भी हमें कभी–कभी सही ज्ञान मिल सकता है, परंतु उसे हम हमेशा ही सही नहीं मान सकते। अतः उसमें हमें हमेशा एक संदेह बना रहता है। इसलिए 'शब्द' को प्रमाण का वास्तविक रूप कैसे माना जा सकता है। चार्वाकों द्वारा यह भी स्पष्ट कहा जाता है कि शब्द के रूप में महापुरुषों अथवा आप्त पुरुषों के द्वारा जो बातें कही जाती हैं, अगर वे 'प्रत्यक्ष' के योग्य रहें तो उन्हें कुछ देर के लिए सही मान भी सकते हैं परंतु अगर ऐसी बातें कही जायें जो प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हों तो उन पर कभी भी विश्वास नहीं किया जा सकता है। इसलिए 'शब्द' को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

शब्द प्रमाण के विरोध में चार्वाक आपत्तियाँ प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि–शब्द को प्रमाण कहने का अर्थ है दूसरों के वचन पर विश्वास करना किन्तु यदि दूसरों के वचन पर विश्वास किया जाय तो मूर्खों के वचन पर भी विश्वास करना होगा और मूर्ख के कथन को भी प्रमाण मानना होगा। शब्द प्रमाण के समर्थक मुख्यतः नैयायिक, शब्द को आत्पोपदेश कहते हैं। यदि 'आप्त' का अर्थ ऋषि है तो चार्वाक मतानुसार ऋषि वचन तो बहुधा अविश्वसनीय और स्वतोव्याघाती होते हैं। इन ऋषियों के वचनों पर क्यों विश्वास किया जाय? चार्वाक मतानुसार यदि आप्त का अर्थ 'विषय विशेषज्ञ' हो तो एक सीमित अर्थ में शब्द को प्रमाण रूप स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में भी शब्द प्रमाण का स्वतंत्र साधन सिद्ध नहीं होते, अपितु विषय विशेषज्ञों के प्रत्यक्ष पर आश्रित होने के कारण या तो प्रत्यक्ष सिद्ध होते हैं या अनुमान।

शब्द प्रमाण के समर्थक वेदों को शब्द प्रमाण की कोटि में रखते हैं किंतु चार्वाकों के अनुसार वेद वाक्य अविश्वसनीय और परस्पर विरोधी हैं। वेद जीवन निर्वाह और स्वार्थपूर्ति के उद्देश्य से की गई धूर्त, भाण्ड व्यक्तियों की रचनाएँ हैं, अतएव इन्हें प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता। शब्द से प्राप्त जितने भी ज्ञान हैं,वे सभी अनुमान सिद्ध हैं। किसी भी शब्द को हम इसलिए मानते हैं कि वह विश्वास

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

योग्य होता है। अतः शब्द से ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक अनुमान की आवश्यकता होती है। वह अनुमान इस तरह का होता है–

सभी विश्वास योग्य व्यक्तियों के वाक्य मान्य है।
यह विश्वास योग्य व्यक्ति का वाक्य है।
अतः यह मान्य है।

इससे यह स्पष्ट है कि शब्द के द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान अनुमान पर अवलंबित होता है इसलिए शब्द की प्रामाणिकता उसी प्रकार संदिग्ध है जिस प्रकार अनुमान की। अनुमान की भाँति हम शब्द को विश्वास योग्य मानकर उसके अनुसार अपने कार्य करते हैं। कभी–कभी इस विश्वास के अनुसार कार्य करने में सफलता मिल जाती है, किन्तु अनेक बार नहीं भी मिलती। अतः शब्द ज्ञान प्राप्ति का यथार्थ और निर्भर योग्य साधन नहीं माना जा सकता। सारांशतः चार्वाक का मत यह है कि चूँकि यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अनुमान तथा शब्द विश्वास योग्य हैं, इसलिए प्रत्यक्ष ही एकमात्र स्वतंत्र प्रमाण है। शब्द को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना जा सकता।

चार्वाक का मानना है कि किसी पुरुष के आप्त, प्रामाणिक सत्यवचन तथा हितेच्छु होने के कारण उसके वचनों में आस्था रखना अनुमान ही है और अनुमान की प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि अनुमान का साधन व्याप्ति ज्ञान तथा शब्द प्रमा का साधन, शब्द ज्ञान है। चार्वाक इन दोनों प्रमा साधनों का निराकरण कर तज्जन्य प्रमा का निराकरण करता है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से संभव नहीं है, अनुमान के द्वारा भी व्याप्ति का ज्ञान संभव नहीं क्योंकि व्याप्ति ज्ञान के अनन्तर ही अनुमान प्रमाण, अर्थ का निश्चायक होता है। शब्दप्रमाण से भी व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि शब्द को सर्वसम्मत प्रमाण नहीं माना जाता। शब्द को पृथक् प्रमाण मानने पर भी उसमें व्याप्ति ग्राहकता अनुपपन्न ही है। शब्द, शक्तिज्ञान के सहकार से ही अर्थ का उपस्थापक होता है। शक्तिज्ञान ग्राहकों में प्रमुखता गृहीत वृद्धव्यवहार, अनुमान की सहायता के बिना अवापोद्वाप से शक्तिग्रह नहीं करा सकता। शक्तिग्रह में सहायक अनुमान, व्याप्तिग्रहाधीन होने के कारण यहाँ भी व्याप्तिज्ञान में व्याप्तिज्ञान की ग्राहकता दुर्वार हो जाती है।

"धूम और अग्नि का अविनाभाव है", इस प्रकार के आप्तवाक्यों से भी व्याप्तिज्ञान संभव नहीं क्योंकि लोकानुभूत अतीन्द्रिय ईश्वरादि पदार्थों का उपदेश करने तथा 'जर्फरी–तुर्फरी' आदि निरर्थक शब्दों का उच्चारण करने से मन्वादि में तथा इनके द्वारा धूर्ततावशात् रचित वेदादि ग्रंथों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। धूमादि ज्ञान से वह्न्यादि विषयक प्रवृत्ति प्रत्यक्षमूलक तथा भ्रांतिमूलक है। भ्रान्ति से प्रवृत्त होने पर सत्य अग्नि की उपलब्धि आकस्मिक ही है। इसके लिये कार्यकारणभाव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूलिका कोई नियत व्यवस्था, व्यभिचार दर्शन के कारण नहीं दी जा सकती। कार्यकारणभाव को न मानकर भी जगद्वैचित्र्य की उपपत्ति स्वभाववाद के अनुसार की जा सकती है। अतः शब्द को विश्वसनीय प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार चार्वाक दर्शन अनुमान, उपमान तथा शब्दादि प्रमाणों की प्रामाणिकता को ही खारिज कर देते हैं। हम देखते हैं कि अन्य दर्शन जहाँ शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव किसी अन्य प्रमाण में मानने की बात करते हैं उस स्थान पर चार्वाक शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता को ही स्पष्ट नकार देते हैं क्योंकि चार्वाक एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है।

9. वैशेषिक दर्शन में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव

चार्वाक और वैशेषिक दर्शन में इस संबंध में मतैक्य है कि शब्द पृथक् प्रमाण नहीं है, किन्तु चार्वाक जहाँ शब्द का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में करते हैं, वहाँ वैशेषिकों के अनुसार शब्द का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष की बजाए अनुमान में किया जाना उचित है। वैशेषिक शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में दिखलाते हुए निम्नांकित तर्क प्रस्तुत करते हैं–

(1) शाब्दी प्रमा में भी अनुमान की ही भाँति परोक्ष विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष के आधार पर किया जाता है। अतएव शाब्दी प्रमा प्रकारान्तर से अनुमिति ही है। वैशेषिकों का कहना है कि शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव समान विधि के कारण किया जाता है। जैसे अनुमान में व्याप्तिग्रह, लिंग ज्ञान तथा स्मरण से अनुमिति उत्पन्न होती है उसी प्रकार शब्द प्रमाण में संकेतग्रह वाक्यश्रवण तथा पदार्थ स्मृति से शब्द बोध होता है इसलिए अनुमान तथा शब्द की विधि समान होने से शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में किया जाता है।

(2) अनुमान स्थल में लिंग एवं लिंगी के संबंध बोध (अविनाभाव) के स्मरण की अपेक्षा होती है, और यही स्थिति शब्दज्ञान के स्थल में भी रहती है। शब्द एवं उसके वाच्य के संबंध का स्मरण किये बिना केवल शब्द के सुनने से शब्दज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः शब्द व अनुमान अभिन्न हैं।

(3) अनुमान प्रमाण से भूत, भविष्यत्, व वर्तमान इन तीनों कालों से सम्बद्धपदार्थों का ज्ञान होता है और वही स्थिति शब्द प्रमाण में भी होती है। जैसे अनुमान का विषय अप्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार शब्द प्रमाण का विषय भी अप्रत्यक्ष होता है। अतएव शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण के अभिन्न है।

(4) भिन्न–भिन्न प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भिन्न–भिन्न प्रकार का हुआ करता है। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्य प्रकार का होता है और अनुमान प्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्य प्रकार का। किन्तु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुमान तथा शब्द इन दोनों प्रमाणों से उत्पन्न दो समान विषयक ज्ञान एक ही प्रकार के प्रतीत होते हैं, अतएव शब्द प्रमाण अनुमान के अतिरिक्त कुछ नहीं।

(5) अनुमान में किसी विषय का ज्ञान उससे सम्बंद्ध पदार्थ के ज्ञान से होता है। जैसे अग्नि का ज्ञान धूम दर्शन से होता है। शब्द प्रमाण में भी शब्द के सुनने के बाद उससे सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे ज्ञात लिंग के पश्चात् अज्ञात लिंगी का अनुमान होता है, उसी तरह ज्ञात शब्द के द्वारा अज्ञात अर्थ का बोध होता है। इसलिये दोनों में वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं दिखाई देती।

(6) प्रशस्तपाद कहते हैं कि पदों के श्रवण के बाद 'ये पदार्थ' आकांक्षा, योग्यता तथा आसक्ति युक्त पदों से स्मरणित होने के कारण परस्पर संसर्ग वाले हैं। जैसे "डंडे से गाय को हटाओ" इन पदों से स्मरणित पदार्थ परस्पर संसर्गयुक्त हैं। अतः अनुमान से संसर्ग की सिद्धि होने से शब्द को अलग प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। पद अपने द्वारा निर्दिष्ट पदार्थों के संसर्ग के ज्ञान के साथ उच्चरित किये जाते हैं। आकांक्षा आदि युक्त होने और अनुमान से ही संसर्ग के सिद्ध हो जाने से शब्द को अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार दोनों प्रकारों से संसर्ग की अनुमिति हो सकती है। अतः प्रशस्तपाद का मत है कि शब्द को पृथक् प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

9. बौद्ध दर्शन में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव

बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं क्योंकि प्रमेय के दो प्रकार हैं—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। आचार्य दिग्नांग का कहना है कि—

अत्र प्रमाणं द्विविधमेव। कुतश्चेत्? द्विलक्षणं प्रमेयम्।
स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्न लक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति। [34]

अर्थात् प्रमाण दो ही हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। अर्थात् स्वलक्षण विषयक और सामान्यलक्षण विषयक दो ही प्रमेय हैं। इसीलिये तीसरा कोई प्रमाण (अविसंवादी या अज्ञातार्थ प्रकाशक) नहींहै। इसी दृष्टि से आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं—

मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः।
अर्थ क्रियायां केशादिनार्थोऽनर्थादिमोक्षतः।। [35]

अर्थात् प्रमाण दो ही हैं क्योंकि प्रमेय दो हैं। तात्पर्य यह है कि स्वलक्षण और सामान्य लक्षण दो ही ग्राह्य विषय हैं, अतः इनका ग्रहण करने वाले प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान ही हैं। अर्थ क्रिया में शक्त (समर्थ) को स्वलक्षण और अशक्त (असमर्थ) को सामान्य लक्षण कहा जाता है। ये ही दो प्रमेय या विषय हैं।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार प्रमाण दो ही हैं, क्योंकि प्रमेय दो हैं। दार्शनिक आचार्य धर्मकीर्ति का तर्क है कि प्रतीति और प्रमाण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में अविनाभाव संबंध होता है। जहां प्रतीति है वहाँ प्रमाण अवश्य है अन्यथा प्रतीति निराधार होगी। इसी प्रकार जहाँ प्रमाण है वहाँ प्रतीति अवश्य है, अन्यथा प्रमाण का प्रदर्शक होना निष्फल होगा। व्यवहार के विश्लेषण से हमें ज्ञात होता है कि ग्राह्य अर्थ (विषय) दो ही हैं। कुछ विषयों का हमें साक्षात् या प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण होता है, कुछ का असाक्षात् या परोक्ष रूप से। जिस विषय का साक्षात् रूप से ग्रहण होता है वह स्वलक्षण है और जिसका असाक्षात् से ग्रहण होता है वह सामान्य लक्षण है। पहला प्रत्यक्षगम्य है तो दूसरा अनुमेय है अतः प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं।

द्विविधं सम्यक् ज्ञानं, प्रत्यक्षं अनुमानं चेति।[36]

अर्थात् यथार्थ ज्ञान (प्रमा) दो हैं। अतः इनके प्रमाण भी दो ही हैं। इस प्रकार आचार्य साध्य और साधन में अविनाभाव मानते हैं। इतना ही नहीं, इन दोनों में व्यवस्था भी स्वीकार करते हैं। दोनों का क्षेत्र नितांत पृथक् है, किसी के क्षेत्र में किसी का अतिक्रमण स्वीकार नहीं, निषिद्ध है। स्वलक्षण कभी अनुमान का विषय नहीं बन सकता और सामान्य लक्षण कभी प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता। इनका क्षेत्र निश्चित है इनकी व्यवस्था निर्विवाद है। इसका कारण प्रमाण और प्रमेय में अविनाभाव संबंध है जैसे साधन और साध्य का अविनाभावी संबंध। यह अविनाभाव संबंध केवल प्रत्यक्ष और अनुमान में ही संभव है। अतः बौद्धमत में ये ही दो प्रमाण मान्य हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति का दूसरा तर्क है कि प्रमाण अविसंवादक होता है। अग्नि का प्रदर्शक तो प्रमाण है, परंतु अग्नि में दाह—पाक आदि रूप प्रयोजन का ज्ञान अविसंवादकत्व या प्रामाण्य है। प्रमाण तो केवल विषय के स्वरूप का प्रदर्शन करता है। यह ज्ञान के स्वरूप का प्रदर्शन है। परंतु अर्थक्रिया की स्थिति का ज्ञान अविसंवादकत्व है, प्रामाण्य है जो प्रमाण के ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होता है। इसीलिये आचार्य कहते हैं—*प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थ क्रिया स्थितिः।*[37] अर्थात् प्रमाण अविसंवादक है तो अर्थक्रिया की स्थिति का ज्ञान अविसंवादकत्व है। इससे स्पष्ट होता है कि अविसंवादक प्रमाण दो ही हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप से भासित होने वाली नियत वस्तु का प्रदर्शक है और अनुमान लिंग से सम्बद्ध नियत वस्तु का प्रदर्शक है। इस प्रकार नियतार्थक प्रमाण दो ही हैं, अन्य नहीं। प्रमाणवार्तिक में आचार्य धर्मकीर्ति ने बतलाया है कि अन्य प्रमाण नियतार्थक नहीं है, अतः अप्रमाण हैं। उदाहरणार्थ शब्द अप्रमाण है क्योंकि शब्द नियतार्थ का प्रदर्शक नहीं है। इसीलिए आचार्य कहते हैं: अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्।[38] अर्थात् शाब्द ज्ञान में वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का प्रकाशन मात्रा होता है, अतः शब्द प्रमाण तो है किंतु वह अपने सीमित क्षेत्र में ही प्रमाण है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्धों का मत है कि शब्दमात्र का यह स्वभाव होता है कि वह वक्ता के अभिप्राय को ही सूचित करता है, पदार्थ तत्त्व का ग्रहण नहीं करता। वक्ता पुरुष का व्यापार विवक्षा है और विवक्षा का विषय श्रोता की बुद्धि नें प्रकाशित होता है, उसी में शब्द का प्रामाण्य सीमित होता है। शब्द से केवल वक्ता की विवक्षा का पता चलता है और विवक्षा अज्ञान से भी हो सकती है। विवक्षा का विषय तो लौकिक घट आदि पदार्थ हैं। ये पदार्थ ही श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होते हैं। परलोक आदि विषय की विवक्षा नहीं हो सकती। अतः परलोक साधक शब्द प्रमाण अप्रमाण है। शब्द मात्र का यह स्वभाव होता है कि वह केवल अपने वक्ता का अभ्रिप्राय ही सूचित कर पाता है, पदार्थ तत्त्व का ग्रहण नहीं करा सकता, अतः शब्द अर्थ तत्त्व का प्रतिपादक नहीं हो सकता क्योंकि अर्थ तत्त्व के साथ शब्द का कोई सीधा संबंध नहीं। अतः शब्द स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। लेकिन शब्द को प्रमाण मानने वाले लोगों का क़हना है कि शब्द दो प्रकार का होता है—पौरुषेय और अपौरुषेय। अपौरुषेय तो वैदिक मंत्र है जो प्रमाण है। पौरुषेय लौकिक शब्द है जिनका अर्थ से अभिन्न संबंध होता है। अतः शब्द में अर्थावबोध की शक्ति है। शब्द को ही शास्त्र प्रमाण माना जाता है। शास्त्र प्रमाण के प्रबल समर्थक शबर स्वामी का कहना है कि पारलौकिक पदार्थों के ग्रहण की क्षमता प्रत्यक्ष और अनुमान में नहीं है। यह क्षमता केवल शब्द में है अतः शब्द प्रमाण है।

आचार्य धर्मकीर्ति इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि अपौरूषेय (नित्य) शास्त्र तो संभव ही नहीं। अपौरूषेय शब्द जब व्याख्याता पुरुष उच्चारण करता है तब व्याख्याता ही वक्ता बन जाता है। अतः वह शब्द अपौरूषेय नहीं रह जाता। अतः अपौरूषेय शब्द या शास्त्र नहीं हैं। सभी शास्त्र पौरूषेय हैं क्योंकि वक्ता या व्याख्याता पुरुष द्वारा उच्चरित हैं। पौरूषेय शास्त्र संभव है, परंतु वह परलोक प्रतिपादक नहीं हो सकता। इसका कारण है कि वक्ता पुरुष का व्यापार विवक्षिता है। विवक्षा का विषय जो श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होता है, उसी में शब्द का प्रामाण्य सीमित है। यदि वक्ता की विवक्षा दूसरी हो और शब्द का प्रतिपादन दूसरा तो वह वक्ता अपेक्षा—पूर्वकारी (बिना सोचे समझे बोलने वाला) कहा जाता है। फलतः परलोकादि पदार्थों के साधन में शास्त्र का प्रामाण्य नहीं हो सकता। धर्मकीर्ति के मत का समर्थन करते हुए एवं शब्द प्रमाण का खंडन करते हुए प्रज्ञाकर गुप्त कहते हैं :—

तथा च निर्विवादं स्यात् यथेष्टं संप्रवर्तताम्।
न हि कश्चिदनुष्ठानं निष्फलं कस्यचित् क्वचित्।। [39]

यदि सभी विवक्षिता शास्त्रकार वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान रखते तो उनके शास्त्रों में परस्पर विरोध न होता। अनुष्ठान के अनुरूप पदार्थों की सिद्धि भी होती।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इससे शास्त्रों का व्यर्थ होना और अनिश्चित होना सिद्ध है। अतः शब्द से केवल लौकिक वस्तु का ही बोध होता है। आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार याज्ञादि पदार्थ असिद्ध हैं। यदि याज्ञादि सिद्ध पदार्थ होते तो स्वर्गादिरूप अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो जाती, उसके लिए यज्ञानुष्ठान की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः शब्द में वस्तु जनकत्व नहीं लेकिन मीमांसकों के अनुसार 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य नियोग (अदृष्ट या अपूर्व) का बोधक है, क्योंकि ऐसे वाक्य को सुनकर किसी कार्य के संपादन में नियुक्त व्यक्ति चुप नहीं बैठता वरन् उसके अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण के आधार पर वेद वचन को अपौरूषेय माना गया है। लेकिन आचार्य धर्मकीर्ति इसे स्वीकार नहीं करते। आचार्य धर्मकीर्ति इसे अनुमान के अंतर्गत ही स्वीकार करते हैं। परंतु आचार्य धर्मकीर्ति शब्द को नितान्त अप्रमाण भी नहीं मानते। उनके अनुसार निर्दोष व्यक्तियों के वचन प्रमाण तो हैं, परंतु उनकी प्रामाणिकता अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध होती है। इसी आधार पर बौद्ध दर्शन में तथागत के वचनों को प्रमाण माना गया है।

शब्द को स्वतंत्र प्रमाण मानने वाले दूसरे दार्शनिक नैयायिक हैं। न्याय के अनुसार शब्द आप्त का उपदेश है। आप्तपुरुष यथार्थ वक्ता होते हैं, अतः वे जो कहते हैं उससे उसी वस्तु की प्राप्ति होती है। यह शब्द प्रमाण मानने का प्रबल कारण है। इसी आधार पर न्याय में शब्दों का वर्गीकरण दो भागों में किया गया है : वैदिक और लौकिक। वैदिक शब्द प्रमाण है, क्योंकि वेद आप्त वचन है। यह आगम (वेद–वाक्य) को पृथक् स्वतंत्र प्रमाण मानने का आधार है। लौकिक शब्द भी प्रमाण होते हैं क्योंकि न्याय के अनुसार शब्द के द्वारा जिस अर्थ को बतलाया जाता है, वही प्राप्त होता है अतः शब्द प्रमाण है। लेकिन बौद्ध दार्शनिक नैयायिकों के शब्द का अंतर्भाव अनुमान में करते हुए कहते हैं कि शब्द का बाह्यार्थ के साथ अविसंवाद होता तो शब्द को प्रमाण माना जा सकता था, किन्तु शब्द का बाह्यार्थ से कोई सबंध ही नहीं है। शब्द और अर्थ के बीच तादात्म्य या तदुत्पति संबंध भी नहीं है। तादात्मय इसलिये नहीं कि दोनों भिन्न रूप में प्रतिभाषित होते हैं और उत्पत्ति इसलिये नहीं कि दोनों में अन्वय व्यतिरेक संबंध नहीं है। अतः शब्द से केवल वक्ता की विवक्षा का पता चलता है और विवक्षा अज्ञान से भी हो सकती है।[49]

आचार्य शांतरक्षित ने भी पहले तो विसंवादी होने के कारण शब्द को अप्रमाण ही बताया किन्तु बाद में शब्दार्थ संबंध की समीक्षा करते हुये यही कहा कि शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में किया जाना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण वचनों द्वारा वक्ता की विवक्षा का अनुमान हो जाता है। इनमें कार्यकारण भाव का निश्चय प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से किया जाता है। अतः शब्द प्रमाण प्रमिति का पृथक् साधन नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आचार्य दिग्नांग के अनुसार शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय अनुमान प्रमाण से होता है और शब्द सुनने के बाद होने वाला यथार्थज्ञान अर्थ से प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः दिग्नांग भी शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान एवं प्रत्यक्ष में करते हैं।

संदर्भ

1. विश्वनाथ पंचाननकृत कारिकावली, श्लोक संख्या 8 के संदर्भ से संपा, डॉ० नन्द किशोर देवराज, भारतीय दर्शन पृ–458
2. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि–न्यायसूत्र 1 |1 |3
3. आप्तोपदेशः शब्दः न्यायसूत्रए 1 |1 |7
4. आप्तवाक्यंशब्दः–तर्कभाषा, शब्दप्रमाण निरूपण।
5. न्यायवार्तिक, 1 |1 |7
6. वही
7. प्रयोग हेतुभूतार्थत्वज्ञान जन्यः शब्दः, तत्व चिन्तामणिः शब्दखण्ड
8. तर्कभाषा, पृ–146.आप्तवाक्यं शब्दः।
9. वही, पृ–182.आप्तवाक्यं शब्दः।
10. न्यायमंजरी, 1 |137
11. तत्वचिन्तामणि, शब्दखण्ड
12. (क) तर्कसंग्रह पृ–182संपा. आनंद झा–आप्तवाक्यं शब्दः।
    (ख) तर्कभाषा पृ–122
13. तत्वार्थाधिगमसूत्र, 1 |35
14. प–भू–सू–3 |99
15. प्रमाणनय तत्वालोलेकार, 4/9
16. जैन तर्कभाषा, पृ–19, सिंघी जैन ग्रंथमाला, 1938
17. (क) यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वक हितोपदेश प्रवण आप्तः।
    (ख) आप्तः शंकरहितः, शंकाहि सकलमोहरागद्वेषादयः।–नि–साता–वृ–5 |11
    (ग) आप्तः प्रत्यक्षप्रमित सकलार्थप्वे सति परमहितोपदेशकः,–न्यायदीपिका, 113
18. तु–:सां–का–5.आप्तश्रुतिराप्तवचनं।
19. तत्वसंग्रह, पृ–822,828
20. अनिरूद्ध वृ–426.न हयाप्तवचनान्नमासो निपतन्ति महासुराः।
    युक्तमद्ववचनं ग्राहयं मान्यैश्च भवद्विधैः।।
21. सांख्यकारिका, 6
22. गौडपादभाष्य, कारिका, 6
23. जयमंगला, कारिका, 6
24. सांख्यतत्व कौमुदी, कारिका, 6
25. व्यासभाष्य, 1 |1 |7
26. योगसिद्धान्त चन्द्रिका, पृ–9
27. वेदांत परिभाषा, पृ–169

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

28. शंकर मिश्र, वैशेषिकसूत्र उपस्कारः पृ–2.2.21, पृ–179.श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः।
29. मानमेय प्रकाशिका 56.अनाप्तानुक्तवाक्यं शब्दप्रमाणम्।
30. वही, पृ–56.वेद प्रामाण्यसंरक्षणाय अनाप्तानुक्तेति नत्रद्वयनिवेशः।
31. दर्शनोदयः, पृ–216.सत्पुरुषोच्चरितवाक्य जन्यं ज्ञानं शब्द प्रमाणम्।
32. (क) न्याय पंचिका, पृ–230
अनाप्तानुक्तवाक्यजनितं तदर्थविज्ञानं तत् प्रमाणम।
(ख) यतीन्द्रमतदीपिका प्रकाशटीका प्रकाश, पृ–25
अनाप्तानुक्तवाक्यजनिततदर्थ विज्ञानं शब्दज्ञानम्।
33. शाबरभाष्य पृ–105
34. प्रमाणसमुच्चय, पृ–04
35. प्रमाणवार्तिक, 2 |1
36. न्यायबिन्दु, 1 |23
37. प्रमाणवार्तिक, 1 |3
38. वही, 1 |3
39. प्रमाणवार्तिकालंकार
40. प्रमाणवार्तिक, 1 |9
49. प्रमाणवार्तिक, 2.1

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - V

उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव

भारतीय दर्शन में "उपमा अथवा 'सादृश्य' के द्वारा प्राप्त ज्ञान को उपमान कहा जाता है।[1] दो वस्तुओं में जब सादृश्य का संबंध हो तो उस सादृश्य बोध से भी कुछ ज्ञान प्राप्त किए जाते हैं। उसी सादृश्य बोध से प्राप्त एक विशेष प्रकार के ज्ञान को 'उपमान' कहते हैं। यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिए कि सादृश्य के आधार पर प्राप्त ज्ञान अनके प्रकार के होते हैं। सादृश्य का बोध बहुधा प्रत्यक्ष के द्वारा भी होता है, जैसे कोई व्यक्ति 'क' देवदत्त नामक किसी व्यक्ति को जानता है, तथा देवदत्त को देखकर उसके विषय में यह भी जानता है कि वह गोरे रंग का, लंबा, पच्चीस वर्ष का युवक है, उसकी आकृति ऐसी–ऐसी है, आदि। पुनः वही व्यक्ति 'क' जब किसी अन्य स्थान पर देवदत्त को देखता है और पहचान लेता है कि 'यह वही देवदत्त' है तो 'क' का यह ज्ञान कि 'यह वही देवदत्त है', प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है यद्यपि यह भी एक प्रकार का सादृश्य बोध ही है। अतएव, सादृश्य बोध उपमान के अतिरिक्त अन्य साधनों, यथा प्रत्यक्षादि से भी होता है। दूसरे शब्दों में, सादृश्य के आधार पर प्राप्त प्रत्येक ज्ञान को उपमान नहीं कहते हैं।

उपमान एक विशेष प्रकार का सादृश्य बोध है, जैसे मान लें कि किसी व्यक्ति 'क' ने 'गवय' कभी नहीं देखी किन्तु दूसरे लोगों से उसने सुन रखा है कि 'गवय' गौ के समान होती है। अब, यदि 'क' जंगल में जाता है और वहाँ उसे गौ के समान कोई प्राणी दिखता है तब इस गौ के समान प्राणी को देखकर पहले से कभी नहीं देखे गये गवय को यदि वह पूर्वकाल में देखी गई गौ से समानता के आधार पर पहचान लेता है अथवा उसे यदि यह बोध होता है कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है' तो इस प्रकार का सादृश्य बोध उपमान की कोटि में आता है। इस प्रकार 'उपमान' सादृश्य के ज्ञान का एक साधन है, यद्यपि सादृश बोध उपमान के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी संभव है। भारतीय दर्शन में न्याय, मीमांसा और वेदांत उपमान को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार करते हैं।

1. वेदांत दर्शन में उपमान

वेदांत परिभाषा के अनुसार सादृश्य ज्ञान के उपकरण को उपमान कहते हैं।[2]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उदाहरणार्थ जिस व्यक्ति ने नगर में गौ को देख रखा हो किन्तु, गवय को कभी नहीं देखा हो, जब वन में जाकर गवय को देखता है तो उसके भीतर दो प्रकार के बोध उत्पन्न होते हैं–प्रथमतः यह कि "यह गवय गौ के समान है', तथा द्वितीयतः यह कि मेरी गौ इस गवय के समान है"। समानता के के इन दो बोधों में प्रथम सादृश्य बोध कि 'यह गवय गौ के समान है' के ज्ञान का करण (साधन) 'अनुमान प्रमाण' है तथा द्वितीय सादृश्य बोध कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है' उपमान का फल अथवा 'उपमिति' है। वेदांत परिभाषा के अनुसार गवयनिष्ठ गोसादृश्य ज्ञान को करण बना कर गोनिष्ठ गवयसादृश्यज्ञान उपमान है।[4]

सांख्य मतावलम्बी उपमान विषयक वेदांतियों के इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि गौ और गवय के बीच का यह सादृश्य बोध प्रत्यक्ष से होता है, उपमान से नहीं। अपने मत को स्पष्ट करे हुए सांख्य कहते हैं कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है', यह ज्ञान अरण्य में गवय को देखकर उत्पन्न हुआ है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। सांख्य सामान्यतः उपमान की व्याख्या प्रत्यक्ष और स्मृति के संयोग से उत्पन्न ज्ञान के रूप में करते हैं। सांख्य मत के अनुसार मेरी गौ इस गवय के समान है–यह ज्ञान वन में गवय को देखकर अपने घर में देखी गई अपनी गौ की स्मृति के आधार पर हुआ सादृश बोध है। अतएव सांख्य मतानुसार उपमान प्रत्यक्ष और स्मृति का सम्मिलित रूप है। किन्तु वेदांतियों के अनुसार सांख्यों की इस प्रतिस्थापना में दोष है। प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षेत्तर समस्त ज्ञान में एक महत्वपूर्ण भेद यह है कि प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष के विषय और ज्ञान के विषय दोनों एक ही होते हैं जबकि प्रत्यक्षेतर समस्त ज्ञान में प्रत्यक्ष और ज्ञान के विषय अलग–अलग होते हैं। ऊपर के उदाहरण में जब व्यक्ति 'क' वन में गवय को देखकर यह ज्ञान प्राप्त करता है कि मेरी गौ उस गवय के समान है तो 'क' वन में गवय को देखकर यह ज्ञान प्राप्त करता है कि मेरी गौ उस गवय के समान है, तो यहाँ 'क' के ज्ञान का विषय गवय और गौ का 'साम्य' है। इस प्रकार वेदांत मतानुसार विषय वस्तु के आधार पर प्रत्यक्ष और उपमान का भेद स्पष्ट होता है।

वेदांतियों के इस तर्क का खंडन करते हुए नैयायिक भी कहते हैं कि वेदांतियों द्वारा दिए गए उदाहरण से साम्य बोध संभव नहीं क्योंकि साम्य बोध सदैव दो ज्ञात वस्तुओं के बीच ही संभव है जबकि वेदांत द्वारा दिए गए उदाहरण में गौ तो पूर्वज्ञात रहती है किन्तु गवय पूर्ण रूप से अज्ञात होता है। अतः ऐसी स्थित में साम्यबोध संभव नहीं। परंतु नैयायिकों की इस आलोचना में बल नहीं दिखता। घर में देखी गई गाय से कोई व्यक्ति परिचित होता है तथा उसके बारे में कुछ तथ्यों को जानता है, यथा, 'यह चौपाया है', 'उसकी पूँछ होती है' आदि। पुनः जब वही व्यक्ति वन में अपरिचित गवय को देखता है तो गवय का कोई पूर्वानुभव न होने पर भी वह इस क्षण में गवय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के बारे में कुछ–न–कुछ जरूर जान जाता है, यथा, 'इसकी पूँछ है' 'वह चौपाया', आदि। अतः जब व्यक्ति यह ज्ञान प्राप्त करता है कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है' तो यहाँ उसके लिए गौ और गवय दोनों ही ज्ञात हैं। साथ ही वेदांत कहीं भी उपमान का विषय 'गौ' अथवा 'गवय' को नहीं मानता। वेदांत मत के अनुसार यहाँ ज्ञान का विषय 'साम्य' है न कि 'गवय' अथवा 'गौ' चूँकि गवय को देखे जाने के पूर्व इस गौ और गवय के बीच इस साम्य का बोध ज्ञाता को नहीं था अतः उपमान यहाँ अनधिगत विषय का ज्ञान दे रहा है।

2. मीमांसा दर्शन में उपमान

मीमांसादर्शन में भी उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। मीमांसा के अनुसार 'जैसा गौ वैसा गवय' यह अतिदेश–वाक्य है। इसे सुनने के बाद कोई व्यक्ति वन में जाकर गौ के समान पिंड को देखता है तो उसे ज्ञान होता है 'मेरी गाय इस पशु के सदृश है'। यही उपमिति है, उपमान का फल है। यह ज्ञान पत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है। प्रत्यक्ष के लिए ग्रामस्थ गौ के साथ अरण्यगत मनुष्य वै चक्षुसन्निकर्ष की आवश्यकता है, जो ग्रामस्थ गौ के साथ दूरस्थ होने से संभव नहीं। अनुमान के लिए अनुमापक हेतु में अनुमेय साध्य की व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान की आवश्यकता है, जो गवय में नहीं है। अतः अरण्यगत मनुष्य को ग्रामस्थ गौ में गवयसादृश्य का ज्ञान उपमान से होता है। इस प्रकार मीमांसा में उपमान को स्वतंत्र प्रमाण तो अवश्य माना गया है, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है, परंतु इसका स्वरूप न्याय से भिन्न है।

मीमांसा का उपमान न्याय को मान्य नहीं है। न्याय की मान्यता है कि उपामिति के द्वारा हमें ज्ञान होता है–गवयगोसदृश है। परंतु मीमांसा की मान्यता है कि हमें ज्ञान होता है–गो गवय सदृश है।[6] अतः दोनों के अनुसार उपामिति का ग्राह्य–विषय भिन्न है। न्याय का कहना है कि यदि मीमांसा दर्शन का उपमान सत्य है तो स्मृति रूप है और स्मृति रूप होने से अप्रमाण होगा। 'गाय गवयसदृश है' यह वाक्य स्मृति सूचक है। यदि इसे स्मृति रूप माना जाए तो अनुमान में अंतर्भूत होगा और इसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना जा सकता। स्मर्यमाण गौ गवयसदृश है क्योंकि गौ के अनेक अंग गवय के अंगों के समान हैं। यदि एक पदार्थ के अनेक अंग दूसरे पदार्थ के अनेक अंगों के समान हों तो दोनों में समानता होगी, जैसे जुड़वा बंधुओं में। इस प्रकार न्यायदर्शन में मीमांसा का उपमान मान्य नहीं।

शाबरभाष्य के अनुसार उपमान एक ऐसा सादृश्यमूलक ज्ञान है जिसमें बोध की वस्तु का इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता, यथा, वन में गवय को देखकर अपनी गौ के विषय में हुआ यह सादृश्य बोध कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है'।[7] मीमांसा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के दोनों संप्रदाय–भाट्ट और प्राभाकर, उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं तथा उपमान को सादृश्य ज्ञान का साधन कहते हैं किन्तु भाट्ट और प्रभाकर मीमांसकों में उपमान विषयक एक मतभेद अत्यंत प्रखर है। वह मतभेद यह है कि कुमारिल भट्ट तथा उनके समर्थक दो वस्तुओं के साम्य को उन वस्तुओं से भिन्न कोई यथार्थ वस्तु अथवा कोटि नहीं मानते जबकि यथार्थवादी प्राभाकर 'गौ' और 'गवय' की भाँति ही उनकी 'समानता'को भी एक पृथक वस्तु मान लेते हैं। इस प्रकार प्राभाकर मत के अनुसार साम्य की यथार्थ वस्तुपरक स्वतंत्र सत्ता है जिसका ज्ञान उपमान से होता है, जबकि भाट्ट मतानुसार 'साम्य' की स्वतंत्र वस्तुपरक सत्ता नहीं। इसका ज्ञान 'गौ' और 'गवय' के ज्ञान से ही हो जाता है।

3. न्याय दर्शन में उपमान

न्याय, मीमांसा और वेदांत तीनों ही उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं तथा तीनों में परस्पर इस बात पर सहमति है कि उपमानं 'सारूप्य विषय'[8] का ज्ञान है। परम्परागत न्याय मत के अनुसार संज्ञा–संज्ञि संबंध का ज्ञान उपमान है। महर्षि गौतम ने 'उपमान' का निरूपण करते हुए लिखा है कि प्रसद्धि वस्तु के सादृश्य गुणों को साधन बना कर अप्रसिद्ध साध्य का ज्ञान उपमान है।[9] प्रशस्तपाद ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिस प्रमाण से प्रसिद्ध वस्तु (अर्थात् गौ आदि) के जाने हुए समान धर्म को साधन बनाकर अज्ञात अथवा अप्रसद्धि वस्तु (यथा गवय) का ज्ञान प्राप्त किया जाता है वही उपमान है।[10] उदाहरणार्थ, मान लें कि कोई व्यक्ति 'क' गवय को नहीं जानता। उसे कोई वनवासी यह बतलाता है कि गवय घर में देखी गई गौ के समान है। पुनः यह व्यक्ति 'क' वन में जाता है और उसे वहाँ गौ की तरह का कोई पशु दिखता है तब गौ के ज्ञात गुणों के साम्य के आधर पर जब उसे यह ज्ञान होता है कि 'यह गवय है', तो सारूप्य अथवा सादृश्य के आधार पर यह ज्ञान 'उपमान' कहलाता है। न्याय मंजरी में जयंत ने परंपरागत न्याय के उपमान विषयक मत की व्याख्या करते हुए कहा है कि परम्परागत न्यायमत के अनुसार किसी अधिकारी व्यक्ति, यथा वनवासी, के कथन अथवा 'अतिदेशवाक्य' के आधार पर किसी एक ज्ञात वस्तु, यथा गौ, तथा अन्य अज्ञात वस्तु यथा गवय के गुणों के सादृश्य के आधार पर हुआ संज्ञा–संज्ञि संबंध का ज्ञान, यथा, 'यह गवय है', उपमान है।[11]

नैयायिक उद्योतकर ने उपमान की महर्षि गौतम प्रदत्त परिभाषा में थोड़ा परिवर्तन किया है। महर्षि गौतम ने उपमान को प्रसिद्ध साधर्म्य के आधार पर परिभाषित किया है[12], यथा, "गौ" की (प्रसिद्ध) समानता के आधार पर गवय के ज्ञान को 'उपमान' कहा गया है। उद्योतकर ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपमान में प्रसिद्ध साधर्म्य' की महत्ता तो है किन्तु इसी भाँति उपमान में प्रसिद्ध वैधर्म्य' की भी भूमिका है। जैसे, यदि किसी ने एकश्रृंग को नहीं देखा। यदि कोई कोई जानकार व्यक्ति उस व्यक्ति को यह बतलाता है कि एकश्रृंग चतुष्पद पशु है जो अन्य पशुओं से इस अर्थ में भिन्न है कि उसे एक ही श्रृंग होता है, तो इस विभेद अथवा वैधर्म्य के ज्ञान के आधार पर जंगल में वह व्यक्ति जब एकश्रृंग को देखकर पहचान लेता है तो उसे भी उपमान ही कहेंगे। इस प्रकार उपमिति (उपमान का फल) 'साधर्म्य' और'वैधर्म्य' दोनों के आधार पर संभव है। न्याय मतानुसार उपमान के तीन चरण या घटक होते हैं—सादृश्य, अतिदेशवाक्य तथा उपमिति।

न्याय मतानुसार उपमान की प्रक्रिया मुख्यतः निम्नलिखित तीन चरणों में संपन्न होती है—प्रथमतः किसी अधिकारी व्यक्ति अथवा अतिदेशक द्वारा जिज्ञासु को दिया गया साधर्म्य अथवा वैधर्म्य का बोध, यथा, जो व्यक्ति गवय को नहीं जानता उसे वनवासी द्वारा जब यह बतलाया जाता है कि गवय घर में देखी गई गौ के समान होती है, तो सादृश्य का यह अवबोध उपमान का प्रथम चरण है। इसे 'उपमान का करण' अथवा कारण कहा जाता है। इसे ही 'अतिदेशवाक्य' कहा गया है। पुनः, जब जिज्ञासु वन में जाता है और वह गौ के समान उस पशु को देखता है तो उसे इस पशु से अतिदेशक अर्थात् वनवासी, (जो अधिकारी पुरुष है) के द्वारा निर्दिष्ट अपने घर की गौ के सादृश्य का स्मरण होता है। अतिदेशक के इस कथन को 'अतिदेशवाक्य' तथा द्वितीय चरण के इस समस्त व्यापार को 'उपमान का व्यापार' कहा जाता है। पुनः जब इन दोनों चरणों के उपरांत जिज्ञासु को वन में देखे गए पशु के विषय में यह संज्ञा—संज्ञि ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह गवय है', तो इस संज्ञा—संज्ञि ज्ञान, यथा 'यह गवय है' को 'उपमान का फल' अथवा 'उपमिति' कहते हैं। दूसरे शब्दों में 'उपमान से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे 'उपमिति' अथवा 'उपमान का फल' कहते हैं।

न्याय मतानुसार उपमान संज्ञा—संज्ञि संबंध का ज्ञान है। जैसे कोई व्यक्ति अपने पड़ोसी से यह सुनता है कि गवय गौ के आकार—प्रकार का पशु है। वह व्यक्ति जब वन में जाता है तो वहाँ गौ के आकार—प्रकार के प्राणी को देखकर यह कहता है कि 'यह गवय है'। यही उपमान है। इस प्रकार न्याय मतानुसार उपमान शब्द के वाच्यार्थ या वस्त्वार्थ का ज्ञान है।' लेकिन वेदांती उपमान की इस परिभाषा पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि संज्ञा—संज्ञि संबंध का ज्ञान या तो शब्द प्रमाण है या अनुमान। 'यह गवय है' इसका ज्ञान यदि पड़ोसी के मुख से यह सुनकर हुआ कि गवय में इस प्रकार की विशेषताएँ हैं तो ऐसी स्थिति में यह शब्द ज्ञान है। पुनः यदि 'यह गवय है' यह ज्ञान इस प्रकार हुआ कि 'सभी गौ सादृश्य जीव गवय है', यह जीव गौ सादृश्य है, अतः 'यह गवय है', तो यह अनुमान है। किन्तु नैयायिक विभिन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार से इन आरोपों का खंडन करते हैं और यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते है कि संज्ञा–संज्ञि संबंध का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से होता है न शब्द अथवा अनुमान से। जंगल में पशु देखकर पशु का ही प्रत्यक्ष होता है उसके नाम या संज्ञा का नहीं अतः संज्ञा–संज्ञि संबंध का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता। यह शब्द भी नहीं है क्योंकि सुनकर गौ से गवय की समानता का पता तो चलता है किन्तु 'यह गवय है' इसका ज्ञान नहीं होता। यह अनुमान भी नहीं है, क्योंकि अनुमान में लिंग और साध्य का पूर्वप्रत्यक्ष होना आवश्यक होता है जो कि उपमान की स्थिति में नहीं होता। अतः उपमान अनुमान भी नहीं है।

4. उपमान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव

बौद्धों के अनुसार उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में हो जाता है। उनका कथन है कि नागरिक जब गवय को देखता है तो उसे यह मालूम होता है कि दृश्यमान प्राणी गाय के सदृश है। इस प्रकार अपने साक्षात् ज्ञान के आधार पर ही वह ऐसा ज्ञान भी प्राप्त करता है कि 'गवय गाय के सदृश है।' अतः यह प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है। लेकिन नैयायिकों का यह कथन है कि "सादृश्य का कथन केवल गवय में ही नहीं अपितु 'गाय' में भी होता है तो यह प्रत्यक्ष होता, किन्तु गाय तो नागरिक के समक्ष है ही नहीं, अतः सादृश्य ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।" बौद्ध अपने कथन का समर्थन करते हुए कहते हैं कि सादृश्य आंशिक रूप से नहीं रहा करता, अतः गाय का उस समय दर्शन हुये बिना भी यानी केवल गवयं को देखने से भी सादृश्य का बोध हो सकता है। अतिदेश वाक्य के अभाव में भी गवय का दर्शन तो नागरिक कर ही सकता है।

जयंत भट्ट ने बौद्धों के उपर्युक्त तर्क का समाधान करते हुये कहा कि जैसा अनुमान प्रमाण के संदर्भ में पर्वत पर जो धूम देखा जाता है वह प्रत्यक्ष होते हुये भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, उसी प्रकार सादृश्य का जो प्रत्यक्ष नागरिक को होता है, वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है। क्योंकि धूम दर्शन और सादृश्य दर्शन ज्ञान प्रक्रिया के मध्यवर्ती सोपान हैं, वे अपने आप में लक्ष्य नहीं हैं। लक्ष्य तो अनुमान के संदर्भ में पर्वत पर अग्नि का ज्ञान है और उपमान के संदर्भ में संज्ञा–संज्ञि संबंध प्रतीति। अतः जैसे अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष का सहारा लेते हुए भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, उसी प्रकार उपमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष का सहारा लेने पर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है।[13] उदयनाचार्य का भी यही कथन है कि संज्ञा का संज्ञी के साथ संबंध का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। उसके लिए उपमान प्रमाण को मानना आवश्यक है।[14]

नैयायिकों के अनुसार उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष से तो केवल यह ज्ञान होता है कि दृश्यमान वस्तु (यथा गवय), स्मर्यमाण वस्तु (यथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गौ) के धर्मों के सदृश धर्मों से युक्त है। अतः 'यह गवय है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष पर उतना आधारित नहीं है, जितना कि आप्त व्यक्ति द्वारा कथित इस वाक्य के स्मरण पर कि 'गवय गाय के सदृश होता है।' इस प्रकार सादृश्य के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अथवा अतिदेश वाक्य से प्राप्त ज्ञान के स्मरण से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमित नहीं कहा जा सकता। नैयायिकों के अनुसार उपमान प्रमाण का जो फल (संज्ञासंज्ञिसंबंध प्रतीति) है, उसकी सिद्धि प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पर आधारित है, उसमें अतिदेश वाक्य के अर्थ के समरण की अपेक्षा नहीं रहती, जबकि उपमान के लिए उसकी अनिवार्यता है।

सांख्य भी उपमान को प्रत्यक्ष का रूप मानते हैं, अतः उनके अनुसार उपमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। सांख्य मतानुसार दो वस्तुओं में समानता का अर्थ है कि उनके भीतर कोई सामान्य लक्षण उपस्थित है। 'गवय' में 'मेरी' 'गौ' के समान कुछ लक्षणों का प्रत्यक्ष ही हमें यह ज्ञान प्रदान करता है कि 'मेरी गौ गवय के समान है' इस प्रकार 'मेरी गौ इस गवय के समान है' समानता के प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान है। यह न तो अनुमान है और न ज्ञान का अन्य कोई साधन ही। लेकिन वेदांती इस आरोप का खंडन करते हुए कहते हैं कि दो वस्तुओं में समान लक्षणों की उपस्थिति का अर्थ यह नहीं है कि वे लक्षण एक ही (indentical) हैं। 'समानता' और 'एक' में भेद है, जैसे राम और लक्ष्मण में यह समानता है कि दोनों दशरथ पुत्र हैं, दोनों धुनर्धारी हैं आदि, परंतु इस आधार पर राम और लक्ष्मण को एक नहीं कहा जा सकता। जबकि 'राम और 'दशरथ' के ज्येष्ठ पुत्र दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार जब प्रत्यक्षकर्त्ता को गवय का प्रत्यक्ष होता है तो यह प्रत्यक्ष गवय में 'गौ के समान लक्षणों का प्रत्यक्ष होता है, न कि उन लक्षणों का प्रत्यक्ष जो मेरी गौ में है। अतः 'मेरी गौ इस गवय के समान है', यह प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान नहीं है क्योंकि वहाँ हमें अपनी गौ का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है।

5. उपमान का प्रत्यक्ष और स्मृति में अन्तर्भाव

उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानने के विरुद्ध एक आपत्ति यह की जाती है कि उपमान प्रत्यक्ष और स्मृति का मिला–जुला रूप है। इस मत के समर्थकों के अनुसार 'मेरी गौ इस गवय के समान है' इस निर्णय में 'मेरी गौ' उद्‌देश्य है, तथा ' इस गवय के समान है' विधेय है। इस निर्णय का उद्देश्य, अर्थात् 'मेरी गौ' स्मृति से प्राप्त होता है (अर्थात् हमने जो पहले अपनी गौ देखी थी, उस गौ की, स्मृति अभी मेरे पास है जो स्मृति इस गवय को देखकर जागृत हो उठती है। इस प्रकार निर्णय का उद्‌देश्य अर्थात् 'मेरी गौ' स्मृति से प्राप्त है।) निर्णय का विधेय अर्थात् इस गवय के समान है, गवय में गो के समान लक्षणों के प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार 'मेरी गो इस गवय के समान है' इस निर्णय का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह निर्णय अंशतः समृति और अंशतः प्रत्यक्ष पर आधारित है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उपमान समृति और प्रत्यक्ष का सम्मिलित रूप है।

उपमान के समर्थक उपरोक्त आपत्ति का उत्तर दो प्रकार से देते हैं—पहला, अगर यह मान भी लिया जाय कि 'मेरी गौ' का ज्ञान स्मृति से एवं गवय के लक्षणों का ज्ञान प्रत्यक्ष से हो रहा है तो भी प्रश्न यह है कि मेरी गौ और इस गवय के लक्षणों के बीच संबंध कैसे स्थापित होता है? स्मृति और प्रत्यक्ष से तो निर्णय के तंतु असंबद्ध रूप में प्राप्त हुए परंतु असंबद्ध संघटकों को 'निर्णय' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मेरी 'गौ' की स्मृति और 'गवय के प्रत्यक्ष' मात्र से यह निर्णय भिन्न है कि 'मेरी गौ इस गवय के समान है। मेरी गौ एवं 'इस गवय' के बीच संबंध न तो स्मृति से स्थापित किया जा सकता है न ही प्रत्यक्ष से, बल्कि उसका साधन सर्वथा पृथक् है। यही साधन उपमान है। दूसरा, अगर यह मान भी लिया जाय कि स्मृति से मेरी गौ एवं प्रत्यक्ष से गवय के लक्षणों का ज्ञान हो रहा है और इस आधर पर यह कह दिया जाय कि उपमान उपमिति प्रमा का स्वतंत्र करण नहीं है तो, उपमान के समर्थकों के अनुसार, इस आधार पर तो अनुमान को भी स्वतंत्र प्रमाण की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए, क्योंकि अनुमान में भी स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों ही उपस्थित रहते हैं। उदाहरणार्थ—

'जहाँ—जहाँ धुआँ हैं, वहाँ—वहाँ आग है',
पर्वत पर धुआँ है।
अतः, पर्वत पर आग है।

अनुमान के इस निर्णय में भी दो पद है—'पर्वत और 'आग'। इनमें से पर्वत का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है एवं अग्नि का स्मरण होता है। इस प्रकार अनुमान में भी स्मृति और प्रत्यक्ष उपस्थित होते हैं। अगर स्मृति और प्रत्यक्ष की उपस्थिति के बाद भी अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण माना जा सकता है तो उपगान को क्यों नहीं? इस प्रकार मीमांसक और वेदांती उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित करते हैं।

6. उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव

वैशेषिक दर्शन के अनुसार उपमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं, इसका अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है। इस अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होगा—

गवय—शब्द नीलगाय का वाचक है क्योंकि नीलगाय के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। जैसे गौ—शब्द गौपिण्ड का वाचक है। अतः गवयशब्द नीलगाय का वाचक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। इस अनुमान से स्पष्ट है कि गवय–शब्द गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक है अथवा नीलगाय गवय स्वरूप से गवय शब्द का वाच्य है।

किंतु न्याय और मीमांसा के अनुसार उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। महर्षि गौतम का कहना है कि उपमिति और अनुमिति के प्रमा में भेद है। अनुमिति के द्वारा ऐसी प्रमा नहीं होती–जैसा धूम वैसा अग्नि। इस प्रकार की प्रमा केवल उपमिति में होती है–जैसी गाय वैसी नीलगाय। अनुमिति के द्वारा हमें प्रमा होगी–पर्वत में अग्नि है। यह प्रमा उपमित्यात्मक प्रमा (जैसे–वैसे) से बिल्कुल भिन्न है। दूसरी बात यह है कि अनुमिति का आधार व्याप्तिज्ञान है। उपमिति में व्याप्ति ज्ञान नहीं होता। अनुमिति में व्याप्ति का स्वरूप है–जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि। परंतु उपमिति में यह व्याप्ति नहीं बन सकती–जो जो गोसदृश है, वह नीलगाय है। सादृश्य को हेतु नहीं स्वीकार किया जा सकता। अतः नैयायिकों के मतानुसार उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया जा सकता। लेकिन कुछ दार्शनिकों के अनुसार उपमान अनुमान इसलिए है क्योंकि इसमें न्याय के तीनों अवयव आते हैं। 'मेरी गाय गवय के समान है' यह निर्णय इस प्रत्यक्ष पर आधारित है कि 'यह गवय मेरी गाय के समान है' इसमें अनुमान का रूप इस प्रकार है–

यह गवय मेरी गौ के समान है

अतः मेरी गौ इस गवय के समान है।

लेकिन प्रत्युत्तर में वेदांती कहते हैं कि यह ठीक है कि यहाँ 'मेरी गौ इस गवय के समान है' को अनुमान के रूप में दर्शा दिया गया है किन्तु इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने के योग्य है कि अनुमान का आधार व्याप्ति होता है। अनुमान कभी भी बिना व्याप्ति के संभव नहीं होता किन्तु उपमान में व्याप्ति के बिना भी निर्णय प्राप्त कर लिया जाता है। जैसे, यह सर्वथा संभव है कि किसी भी व्यक्ति को इस व्याप्ति का ज्ञान न हो कि 'जब कोई एक वस्तु किसी दूसरी के समान होती है तो दूसरी वस्तु पहली के समान होती है।' इस व्याप्ति ज्ञान के अभाव में भी यह संभव है कि वह व्यक्ति जंगल में गवय देखे और पूर्वकाल में देखी गयी अपनी गौ से उसकी तुलना करके कहे कि मेरी गौ गवय के समान है। इस प्रकार वेदांत मत के अनुसार उपमान अनुमान नहीं है।

7. उपमान का सादृश्यानुमान में अन्तर्भाव

वेदांती उपमान को सादृश्य ज्ञान कहते हैं। नैयायिक भी उपमान को 'संज्ञा–संज्ञि संबंध का ज्ञान' कहते हैं। यह संज्ञा–संज्ञि संबंध का ज्ञान सादृश्य पर ही आधारित है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपमान सादृश्यानुमान है। सादृश्यानुमान में दो वस्तुओं में कुछ समानता के ज्ञान के आधार पर किन्हीं अन्य गुणों की समानता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का अनुमान किया जाता है। जैसे राम और मोहन में यह देखा गया कि दोनों एक ही गाँव के निवासी हैं, एक ही कक्षा और विद्यालय के विद्यार्थी हैं, आदि, एवं इस समानता के आधार पर अगर राम को ईमानदार देखकर यह अनुमान कर लिया जाय कि मोहन भी ईमानदार है तो इसे सादृश्यानुमान कहेंगे।

कुछ दार्शनिकों का मत है कि उपमान का अन्तर्भाव पाश्चात्य तर्कशास्त्र के सादृश्यानुमान हो जाता है। सादृश्य एनॉलोजी के ऊपर आश्रित युक्ति इस प्रकार की होती है–

'क' और 'ख' में कई बातों का सादृश्य है।
'क' में एक नया गुण 'ग' है।
इसलिए 'ख', में भी वह गुण होगा।

लेकिन इस युक्ति को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उपमान एनॉलोजी से भिन्न प्रमाण है, हालाँकि दोनों ही का आधार सादृश्य होता है। सादृश्यानुमान सदैव सादृश्य पर ही आधारित होता है, किंतु उपमान साधर्म्य, वैधर्म्य और विचित्र धर्म तीनों के आधार पर भी होता है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति को यह बताया जाता है कि घोड़ा गाय से भिन्न होता है, क्योंकि गाय के खुर फटे हुए होते हैं और घोड़े के नहीं। तो वह व्यक्ति ऐसे जानवर को देखकर जान लेता है कि वह घोड़ा देख रहा है। यह भी उपमान ही है, हालाँकि इसका आधार वैधर्म्य है। उपमान और एनॉलोजी में एक अंतर यह भी है कि उपमान से जो ज्ञात होता है वह दो वस्तुओं के सादृश्य का ज्ञान नहीं होता, बल्कि संज्ञा (नाम) और संज्ञिन (नामवाला) के संबंध का ज्ञान होता है। अतः उपमान एनॉलोजी नहीं है।[16]

8. उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव

कुछ दार्शनिक उपमान शब्द में अंतर्भाव करते हैं लेकिन नैयायिकों के अनुसार उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द प्रमाण में विषय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती, जबकि उपमिति के लिए गवय नामक पिण्ड का प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक है। इसके सथ ही गाय के धर्मों तथा अतिदेश वाक्य का स्मरण और गाय तथा गवय के धर्मों में समानता का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। जयंत भट्ट ने यह स्पष्ट किया है कि सामग्री भेद और फलभेद से प्रमाणभेद होता है और उपमान तथा शब्द प्रमाण की सामग्री और फल अलग–अलग हैं।[17]

कुमारिल नैयायिकों के मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि 'गवय गाय के सदृश है'–इस वाक्य में प्रयुक्त 'गवय' शब्द का नीलगाय से जो संबंध है, उसका ज्ञान तो अतिदेश वाक्य से ही हो जाता है। और इस प्रकार तो नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित उपमान शब्द प्रमाण से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नैयायिक भी कुमारिल द्वारा प्रतिपादित उपमान का खंडन करते हुए यह कहते हैं कि वस्तुतः हमें जो अनुभव होता है वह इस प्रकार होता है कि 'गवय गाय के सदृश है' न कि यह कि गाय गवय के सदृश है।[18] इसके विपरीत थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाए कि 'गाय गवय के सदृश है'—ऐसा अनुभव होता है तो यह स्मृति का उदाहरण होगा, न कि उपमान का। यदि इसको स्मृति न भी मानें तो यह अनुमान में अन्तर्भूत हो जाएगा, जिसका स्वरूप इस प्रकार होगा—

स्मर्यमाण गाय गवय के समान है।

क्योंकि गाय के अनेक अंग गवय के अंगों के समान हैं।

यदि एक वस्तु के अनेक अंग दूसरी वस्तु के अनेक अंगों से मिलते हों तो दोनों वस्तुओं में समानता मानी जाती है—जैसे कि जुड़वाँ भाईयों में।

सारांश

उपरोक्त संपूर्ण वर्णन से स्पष्ट पता चलता है कि उपमान को स्वंतत्र प्रमाण मानने में दार्शनिकों ने कई विपत्तियां खड़ी की हैं। चार्वाक दर्शन तो उपमान को प्रमाण ही स्वीकार नहीं करता। वहीं कुछ अन्य दर्शनों के मत में यह स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। बौद्ध मानते हैं कि उपमान स्मृति तथा प्रत्यक्ष की मिली—जुली प्रक्रिया है। यह कोई स्वतंत्र प्रक्रिया नहीं है। दिग्नांग उपमान को प्रत्यक्ष के अंतर्गत मानते हैं।[19] वैशेषिक लोग इसे अनुमान के भीतर बतलाते हैं। सांख्यवादी उपमान में शब्द तथा प्रत्यक्ष की आंशिक स्थिति मानते हैं। भासर्वज्ञ ने उपमान को शब्द के अंतर्गत स्वीकार किया है। जैन दर्शन उपमान को प्रत्यभिज्ञा मात्र मानता है।[20] न्याय, मीमांसा तथा वेदांत दार्शनिकों का मानना है कि यद्यपि उपमान में स्मृति तथा प्रत्यक्ष का समायोजन है, तथापि यह एक स्वतंत्र प्रमाण है। यह अनुमान का प्रकार भी नहीं है, क्योंकि अनुमान में व्याप्ति ज्ञान का समायोजन होता है, किन्तु उपमान में व्याप्ति ज्ञान के सम्मिलित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उपमान में किसी विशेष वस्तु के साथ उसका श्रेणी संबंध मात्र निर्णीत होता है। इसके अतिरिक्त उपमान में प्राप्त वाक्य का समायोजन होता है, इसलिए यह अनुमान नहीं है। उपमान केवल प्रत्यक्ष या स्मृति या प्रत्यभिज्ञा (पहचान) भी नहीं है। यह केवल प्रत्यक्ष भी नहीं है, क्योंकि इसमें आप्त वाक्य का नितांत समायोजन है। यह प्रत्यभिज्ञा भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में आप्त वाक्य का समायोजन नहीं होता। यह स्मृति भी नहीं है क्योंकि उपमान में उपमिति पूर्वदृष्ट (पहले से देखा हुआ) नहीं होता। अतः उपमान एक स्वतंत्र प्रमाण है।[21]

इस प्रकार उपमान को न्याय, मीमांसा तथा वेदांत दर्शनों ने एक प्रामाणिक ज्ञान का साधन मानकर स्वतंत्र प्रमाण मानने के पक्ष में तर्क दिये हैं, किंतु उपमान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को स्वतंत्र प्रमाण मानने वाले भारतीय दार्शनिक संप्रदायों में भी उपमान के स्वरूप को लेकर आपसी मतभेद हैं। न्याय, मीमांसा तथा वेदांत तीनों भले ही उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानते हों लेकिन न्याय दर्शन मीमांसा के उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में करता हुआ दिखलाई देता है जबकि दूसरी तरफ मीमांसा दर्शन न्याय दर्शन के उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में करते हुए दिखाई देता है। उपमान को लेकर इसी प्रकार की स्थिति कमोवेश वेदांत दर्शन के साथ भी है।

संदर्भ

1. उपमीयते अनेन इति उपमानम्।
2. वैशेषिक सूत्र, प्रशस्तपादभाष्यम्
3. वेदांत परिभाषा–सादृश्यप्रमाकरणमुपमान्।
4. वेदांत परिभाषा
5. न्यायमंरी, 1 |30
6. न्यायमंजरी, 1 |30
7. शाबरभाष्य, 1 |1 |5
8. वेदांत परिभाषा
9. न्यायदर्शनम्, 1 |1 |6
10. वही, प्रज्ञातेनसामान्यत्प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनगुपमानमिति।
11. न्यायमंजरी, 1 |28
12. न्यायदर्शनम्, 1 |1 |6
13. न्यायमंरी पृ–1.131, प्रत्यक्षस्येन्द्रियसन्निकर्षादिस्वभावस्यसंज्ञा संज्ञिसम्बन्धबोधकरणासमर्थत्वात्।
14. न्याय कुसुमान्जलि, 3.8
15. तर्कभाषा, हिन्दी व्याख्याः पं0 बद्रीनाथ शुक्ल, पृ–146
16. जे.एन. सिन्हा, भारतीय दर्शन पृ–129
17. न्यायमंजरी, 1.30
18. वही, 1.33, प्रसिद्धेन हि साधर्म्यम् अप्रसिद्धस्य गम्यते। गवा गवयपिण्डस्य न तु युक्तो विपर्ययः।।
19. न्यायवार्तिक, 1 |1 |6
20. प्रमेय कमल–मार्तण्ड, पृ–97.100
21. बन्धोपाध्याय–भारतीय दर्शन की मर्मकथा, पृ–236

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - VI

अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव

मीमांसक और वेदांती अर्थापत्ति को प्रमा के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। मीमांसा और वेदांत्र दर्शन का मानना है कि अर्थापत्ति से प्राप्त ज्ञान नया होता है अर्थात अर्थापत्ति से पृथक् प्रमा की उत्पत्ति होती है, अतः यह पृथक् प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान इन चारों से भिन्न प्रकार का है। यह पाँचवा और पृथक् प्रमाण है इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान में नहीं हो सकता। लेकिन सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और बौद्ध आदि दार्शनिक अर्थापत्ति को स्वतंत्र (पृथक) प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। सांख्यों तथा नैयायिकों ने प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति के पृथकत्व का जोरदार खंडन प्रस्तुत किया है।

1. मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति

जैमिनी प्रणीत मीमांसाशास्त्र के प्रारंभिक ग्रंथ शाबरभाष्य में अर्थापत्ति की संक्षिप्त व्याख्या मिलती है। शाबरभाष्य के अनुसार अर्थापत्ति उस अर्थ अथवा विषय की कल्पना है कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता तथापि वह प्रचुर स्वास्थ्य है, तो दिन के भोजन त्याग और प्रचुर स्वास्थ्य में स्पष्ट विरोधाभास दिखता है। इन दो विरोधी तथ्यों की सहधर्मिता की व्याख्या तभी संभव है जबकि यह कल्पना कर ली जाय कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। यह स्वीकृति (अथवा कल्पना) ही अर्थापत्ति है जिससे देवदत्त के दिन में भोजन करने तथापि प्रचुर स्वस्थ्य होने की व्याख्या हो पाती है।[1] अतः यह कल्पना 'अर्थापत्ति' है कि 'देवदत्त रात्रि में भोजन ग्रहण करता है।'

मीमांसा मत के दोनों आचार्यों, कुमारिल भट्ट और प्राभाकर मिश्र तथा इनके अनुयायियों ने अर्थापत्ति को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किया है। ये दोनों ही संप्रदाय अर्थापत्ति संबंधी अपनी अवधारणा का विकास शाबरभाष्य के आधार पर ही करते हैं, तथापि कुमारिल तथा प्राभाकर संप्रदायों की अर्थापत्ति संबंधी विवेचना में पर्याप्त भेद है। कुमारिल भट्ट ने अर्थापत्ति संबंधी अपने विवेचन में शाबरभाष्योक्त 'दृष्टः श्रुतोवाऽर्थोऽन्यथानोपपद्यते' की व्याख्या करते हुए कहा है कि अर्थापत्ति वह ज्ञान है जिसमें एक कल्पना के द्वारा किसी ऐसे दृष्ट (इन्द्रियगोचर) अथवा किसी श्रुत (शब्दगम्य) विषय की व्याख्या संभव हो पाती है जिसकी व्याख्या इस कल्पना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के अभाव में अन्य किसी दृष्ट अथवा श्रुत प्रमाण के द्वारा संभव न हो, तो इस कल्पना को 'अर्थापत्ति' कहते हैं।[2] यथा, देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता तथापि वह मोटा दिखता है—इस दृष्ट (प्रत्यक्षगोचर) अथवा श्रुत (शब्दागम्य) विषय (अर्थ) की व्याख्या इस कल्पना (आपत्ति) के अतिरिक्त अन्यथा (शेष अन्य प्रमाण के द्वारा) संभव नहीं कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। अतः देवदत्त रात्रि में भोजन करता है—यह कल्पना 'अर्थापत्ति' है तथा यह 'कल्पना' 'प्रमा' अथवा प्रमाण है।

शबर स्वामी का मानना है कि दृष्ट या श्रुत विषय संबंधी अनुपपत्ति के लिए अर्थापत्ति प्रमाण की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, देवदत्त नामक व्यक्ति जीवित है और घर में नहीं है। ये दोनों बातें अनुपपन्न हैं। इस अनुपपत्ति का निवारण अर्थापत्ति नामक प्रमाण से हो सकता—देवदत्त बाहर है। यहाँ अनुपपत्ति स्पष्ट है—वह जीवित है और घर में नहीं है, तो यह स्वीकार करना ही होगा कि वह बाहर है, अन्यथा जीवित देवदत्त का गृहाभाव अनुपपन्न होगा। यह अनुपपत्ति करण है और उपपत्ति ही इसका फल है। शबर स्वामी ने अर्थापत्ति का यही स्वरूप बतलाया है। अतः वे दृष्ट और श्रुत नामक अर्थापत्ति के भेद नहीं मानते। किंतु कुमारिल भट्ट अर्थापत्ति में आंतरिक भेद मानते हुए कहते हैं कि अर्थापत्ति दृष्ट और श्रुत विषयक दो प्रकार की होती है। उदाहरण के लिए जैसे, जब कोई व्यक्ति दूर से किसी चमकीली वस्तु को चाँदी समझ लेता है, परंतु उसके निकट जाने पर उसे ज्ञान होता है कि यह चाँदी नहीं है। इस प्रकार 'यह रजत है' और 'यह रजत नहीं' इस प्रकार के दो विरोधी ज्ञान हैं। इनमें एक अवश्य असत्य होगा। इनमें अनुपपत्ति है, इसका निवारण तभी हो सकता है, जब यह ज्ञान हो कि दूर से दिखलाई पड़ने वाला रजत नहीं था। यदि वह रजत होता तो निकट आने पर रजत प्रतीत होता। यहाँ पर 'इदं रजतम्' यह तथ्य है और नेदं रजतम् यह भी तथ्य है। परंतु दोनों अनुपपन्न हैं। ये उपपन्न तभी हो, सकते हैं जब पहले को असत्य मान लिया जाय। यदि 'इदं रजतम्' सत्य होता तो निकट आने पर भी ऐसा ही प्रतीत होता और ऐसी प्रतीति नहीं होती कि यह रजत नहीं है। यह दृष्टार्थापत्ति है।

श्रुत विषय संबंधी अर्थापत्ति का वर्णन करते हुए कुमारिल कहते हैं कि—देवदत्त जीवित है और वह घर पर नहीं है तो यह कल्पना की जा सकती है कि वह घर के बाहर कहीं होगा। इसमें दो ज्ञान अनुपपन्न हैं—देवदत्त जीवित है और घर पर नहीं है। इस अनुपपत्ति के निवारण के लिए 'बाहर रहने की बात' स्वीकार करनी होगी। उपपत्ति इस प्रकार हो सकती है—जो व्यक्ति जीवित है और घर पर नहीं है तो अवश्य बाहर है। यदि यह कहा जाय कि व्यक्ति जीवित है और घर तथा बाहर दोनों में नहीं है तो यह ज्ञान अनुपपन्न होगा। इस अनुपपत्ति के निवारण के लिए हमें अवश्य स्वीकार करना होगा कि वह जीवित है तो घर में है या बाहर है। यदि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

घर में नहीं है तो बाहर है और बाहर नही है तो घर में है। जीवित है और घर तथा बाहर दोनों जगहों पर नहीं है, ऐसा नहीं हो सकता इस उपपत्ति को ही श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। इस प्रकार कुमारिल के अनुसार दृष्ट और श्रुत दोनों प्रकार से अर्थापत्ति (अनुपपत्ति) हो सकती है। अतः कुमारिल के अनुसार भाष्य में प्रयुक्त श्रुत और दृष्ट शब्द अर्थापत्ति के दो भेदों के वाचक हैं।[3] किन्तु प्रभाकर का मानना है कि श्रुत और दृष्ट एक ही प्रमाण के दो नामान्तर हैं। अतः श्रुतार्थापत्ति का पृथक् भेद नहीं है।[4]

सुचरित मिश्र ने श्लोकवार्तिक पर टीका करते हुए अर्थापत्ति की जो व्याख्या की है उसके अनुसार 'अर्थापत्ति' का आधार विषय का अन्यथा (अर्थापत्ति अथवा प्रस्तुत कल्पना के अभाव में) अव्याख्येय रह जाना है। यथा, एक उदाहरण में हम पाते हैं कि अग्नि वस्तु को जला कर नष्ट कर देती हैं तथा दूसरे उदहरण में हम पाते हैं कि वस्तु पर अग्निरोधक लेप चढ़ा देने से अग्नि वस्तु को जला कर नष्ट नहीं कर पाती। इन दो परस्पर विरोधी स्थितियों—अग्नि जला कर नष्ट कर देती है तथा अग्नि जला कर नष्ट नहीं कर पाती---की व्याख्या इस कल्पना के अभाव में संभव नहीं (अन्यथानोपपद्यते) कि दाहक क्षमता से युक्त होने पर अग्नि जलाती है तथा दाहक क्षमता रहित अग्नि जला कर नष्ट नहीं कर पाती। सुचरित मिश्र के अनुसार विषय का यह ज्ञान अर्थापत्ति है क्योंकि अन्य प्रमाणों, यथा, प्रत्याक्षदि, से इस विषय का ज्ञान संभव नहीं क्योंकि प्रत्यक्षगम्य रूप में तो अग्नि में सदैव ही दहकता विद्यमान रहती है।[5]

प्रभाकर महर्षि शबर प्रदत्त अर्थापत्ति की व्याख्या के शब्दानुक्रम का अतिक्रमण करते हुए अर्थापत्ति की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, वह व्याख्या कुमारिल भट्ट तथा सुचरित मिश्र प्रदत्त अर्थापत्ति की व्याख्या से तनिक भिन्न है। प्रभाकर शबर कृत 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथानोपपछते इत्यर्थकल्पना' के स्थान पर 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽत्यर्थकल्पना अन्यथानोपद्यते इति' को रखते हुए अर्थापत्ति की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं उसके अनुसार अर्थापत्ति वह दृष्ट अथवा श्रुत कल्पना है जिसके द्वारा किसी एक ऐसे विषय की व्याख्या की जाती है जिस विषय की व्याख्या अन्यथा (इस कल्पना के अभाव में) संभव न हो। यथा, देवदत्त के दिन में भोजन नहीं करने तथा फिर भी पुष्ट दिखने की व्याख्या इस कल्पना (आपत्ति) के बिना संभव नहीं कि वह रात्रि में भोजन करता है। 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है'—इस विषय का ज्ञान न तो दृष्ट है न श्रुत, वरन यह काल्पनिक है।

2. वेदान्त दर्शन में अर्थापत्ति

वेदांत परिभाषा के अनुसार उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना ही अर्थापत्ति है।[6] 'देवदत्त का दिन में भोजन न करना तथा फिर भी स्वस्थ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहना' कार्य है तथा इसके ज्ञान से इसके कारण अर्थात् 'देवदत्त द्वारा रात्रि में भोजन करने की कल्पना' ही अर्थापत्ति है। इस प्रकार वेदांत परिभाषा के अनुसार अर्थापत्ति के दो अंग है—उपपाद्य (कार्य) तथा उपपादक (कारण)। जिस विषय की व्याख्या करनी होती है उसे 'उपाद्य' कहते हैं तथा जो व्याख्या प्रस्तुत की जाती है उसे 'उपपादक' की संज्ञा दी जाती है। वेदांत परिभाषा के अनुसार अर्थापत्ति में उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक का ज्ञान अर्थापत्ति है।[7] यथा, देवदत्त के दिन में भोजन न करने तथा फिर भी मोटा दिखने के ज्ञान से देवदत्त के रात्रि में भोजन करने का ज्ञान अर्थापत्ति से प्राप्त किया जाता है। अर्थापत्ति की मीमांसा प्रदत्त व्याख्या तथा वेदांत प्रदत्त व्याख्या में एक मौलिक भेद दिखता है। वह भेद यह है कि जहाँ मीमांसक प्रदत्त विषय की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति प्रमाण की उपादेयता को स्वीकार करते हैं, वहाँ वेदांती प्रदत्त विषय के ज्ञान के आधार पर काल्पनिक विषय के ज्ञान को अर्थापत्ति के आधार पर संपुष्टि प्रदान करते हैं।

वेदांत परिभाषा के प्रणेता वेदांती धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी कुमारिल भट्ट के समान अर्थापत्ति के दो भेद स्वीकार किये हैं ये हैं—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा दृष्ट अथवा किसी देखी गई घटना की व्याख्या हो रही हो उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं, यथा देवदत्त के मोटापे का प्रत्यक्षगम्य होना, तदुपरांत यह व्याख्या कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। यहाँ 'दृष्ट' शब्द का अर्थ व्यापक है। यहाँ दृष्ट का अर्थ मात्र 'दृष्टिगोचर होना' न होकर पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा एक अन्तः इन्द्रिय के द्वारा सम्मिलत अथवा पृथक्–पृथक् रूप से गोचर होना है। इस प्रकार विस्तृत अर्थ में किसी भी इन्द्रिय गोचर विषय की व्याख्या जब अर्थापत्ति प्रमाण से हो तो इस प्रकार के अर्थापत्ति को दृष्टार्थापत्ति की संज्ञा दी जाती है। जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा किसी श्रुत विषय की व्याख्या होती है उस अर्थापत्ति को श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। जैसे—'देवदत्त जीवित है किन्तु घर पर नहीं है' इस कथन की व्याख्या के लिए यदि यह कल्पना की जाय कि देवदत्त घर के बाहर है तो इसे श्रुतार्थापत्ति कहेंगे। यहाँ 'श्रुत' शब्द का अर्थ भी तनिक सूक्ष्म है। श्रुत का एक अर्थ तो 'सुना गया विषय' होता है तथा दूसरा अर्थ 'शब्द (प्रमाण) गम्य विषय' भी होता है। अपने गूढ़ार्थ में श्रुतार्थापत्ति का अभीष्ट अर्थ 'शब्द (प्रमाण) गम्य विषय' या 'गूढ़ वाक्य की व्याख्या' ही है।

पुनः वेदांती श्रुतार्थापत्ति के भी दो भेद बतलाते हैं[8]—(1) अभिधानानुपपत्ति और (2) अभिहितानुपपत्ति। किसी वाक्य का एक भाग अथवा अर्थ सुनकर जब संपूर्ण वाक्य की कल्पना की जाती है तो यह अभिधानानुपपत्ति है, जैसे—'सर्प' सुनकर जब कल्पना की जाती है कि 'सर्प निकल आया' तो यह अभिधानानुपपत्ति है। अभिहितानुपपत्ति इससे भिन्न है। बहुधा किसी वाक्य से निकला अर्थ प्रमाण विरोधी अथवा स्वतोव्याघाती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। जब प्रमाण विरोधी अथवा स्वतोव्याघाती वाक्य की व्याख्या के लिए अर्थापत्ति का सहारा लिया जाता है तो इस प्रकार की अर्थापत्ति अभिहितानुपपत्ति कही जाती है, जैसे 'मोक्ष प्राप्ति से मरण धर्मा प्राणी अमृतत्त्व को प्राप्त करता है' इस वाक्य के अर्थ से एक स्वतोव्याधात उपजता है कि 'मरणधार्म अमर हो जाता है' प्रश्न है कि मरणधर्मा अमर कैसे हो सकता है? इस व्याघात से बचने के लिए वाक्य का एक अर्थ निकालना पड़ता है कि मरणधमिर्ता मिथ्या या भ्रम है।

3. अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव

वेदांत और भट्ट मीमांसकों के अतिरिक्त अन्य भारतीय दार्शनिक अर्थापत्ति को प्रमाण रूप में मान्यता नहीं देते। सांख्य और न्याय मतानुसार अर्थापत्ति एक प्रकार का अनुमान है। सांख्य इसे वैकल्पिक न्याय की कोटि में रखते हैं तथा नैयायिक इसे व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित अनुमान कहते हैं। अर्थापत्ति को न्याय दर्शन केवल–व्यातिरेकी अनुमान के रूप में दिखलाने की चेष्टा करता है।[9] न्याय मतानुसार जिसे हम अर्थापत्ति कहते हैं, वह इस अनुमान का रूप है–

1. प्रतिज्ञा–देवदत्त रात्रि में भोजन करता है।
2. हेतु–वह दिन में भोजन नहीं करता किन्तु मोटा है।
3. व्यतिरेक व्याप्ति–जो रात्रि में भोजन नहीं करता वह दिन में भोजन नहीं करने पर भी मोटा नहीं रहता जैसे, दिन और रात भोजन नहीं करने वाला नवरात्रोपवासी पुरुष।
4. उपनय–देवदत्त नवरात्रोपवासी के समान दुर्बल नहीं है।
5. निगमन–अतः देवदत्त रात्रि में भोजन करता है।

इस अनुमान को वेदांती दोषपूर्ण बतलाते हैं। वेदांत मतानुसार व्याप्ति अन्वय (हेतु और साध्य के बीच भावात्मक संबंध, जैसे, जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ आग है) तथा व्यतिरेक (हेतु और साध्य के बीच अभावात्मक संबंध, जैसे–जहाँ–जहाँ आग नहीं है, वहाँ–वहाँ धुआँ नहीं है) दोनों के संयोग से प्राप्त होता है। अतएव, वेदांत मतानुसार केवल व्यतिरेकी अनुमान दोषपूर्ण है। वेदांत मतानुसार, अर्थापत्ति को अनुमान रूप में प्रतिष्ठित करने में कठिनाई यह है कि यहाँ व्याप्ति का आधार अन्वय नहीं अतएव अर्थापत्ति अनुमान नहीं है।

सांख्य अर्थापत्ति का अन्तर्भाव व्यतिरेकी अनुमान में करते हैं।[10] सांख्य मतानुसार जिसे अर्थापत्ति कहा जाता है, वह इस अनुमान का रूप है–

जीवित देवदत्त या तो घर में है या घर के बाहर है।
देवदत्त घर में नहीं है।
इसलिए देवदत्त घर के बाहर है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेदांती सांख्य मत का भी खंडन करते हैं तथा विवधि तर्कों से यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि अर्थापत्ति अनुमान नहीं है। जो इस प्रकार हैं–

(1) अर्थापत्ति के प्रत्येक उदाहरण में ज्ञाता स्वयं यह जानता है कि वह मात्र कल्पना कर रहा है न कि अनुमान। वहाँ ज्ञाता की भावना 'कल्पयामि' या 'अर्थापयामि' की होती है न कि 'अनुमानोमि' की। इस प्रकार वेदांत परिभाषा अर्थापत्ति के अनुमानरूप होने का खंडन करती है। इतना ही नहीं वरन् वेदांत परिभाषा के अनुसार केवल–व्यतिरेकी अनुमान को भी अर्थापत्ति नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि मात्र व्यतिरेक के द्वारा व्याप्ति संभव नहीं और व्याप्ति के अभाव में अनुमान संभव नहीं, अतएव, जिसे नैयायिक 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' कहते हैं वह अर्थापत्ति ही है।[11]

(2) अर्थापत्ति की आवश्यकता तभी होती है जब किसी विरोधी या संदेहास्पद स्थिति की व्याख्या करनी हो।[12] उदाहरणार्थ दिन में उपवास करने और मोटे होने में विरोधाभास देखकर ही अर्थापत्ति की जाती है कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। किन्तु इस प्रकार की संदेहास्पद या विरोधी बात को अनुमान के लिंग के तौर पर स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि लिंग सदैव निश्चित और विरोध रहित होना चाहिए। अतएव अर्थापत्ति अनुमान नहीं है।

(3) अनुमान के लिए लिंग अनिवार्य है, किन्तु अर्थापत्ति में लिंग का सर्वथा अभाव है। वस्तुतः अर्थापत्ति की व्याख्या अनुमान की तरह करने में सबसे बड़ी कठिनाई यही आती है कि इसमें लिंग कौन सा है? उदाहरणार्थ "दिन में भोजन नहीं करने वाला मोटा है" की व्याख्या हम देवदत्त द्वारा रात्रि में भोजन ग्रहण करने से करते हैं, तो प्रश्न उठता है कि इसमें लिंग कौन सा है? दिन में भोजन करने को लिंग मानें तो इसमें रात्रि में भोजन ग्रहण करना सिद्ध नहीं क्योंकि इससे देवदत्त का अलौकिक होना भी सिद्ध हो सकता है। इसी भाँति देवदत्त के मोटे होने को भी लिंग नहीं माना जा सकता क्योंकि तब उसका दिन में भोजन करना भी इससे सिद्ध हो सकता है। यहाँ सम्मिलित रूप से देवदत्त का दिन में भोजन न करना और देवदत्त के मोटा होने को लिंग माना जा सकता है किन्तु इससे अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होता है।[13] क्योंकि जब तक हम देवदत्त के रात्रि में भोजन की बात नहीं मान लेते तब तक यह कथन परस्पर विरोधी है कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता फिर भी मोटा है। यहाँ ध्यातव्य है कि लिंग को निश्चित और स्पष्ट होना चाहिए न कि परस्पर विरोधी या संदिग्ध।

(4) अनुमान में लिंग और साध्य के बीच परस्पर संबंध रहता है। लिंग का ज्ञान पहले होता है तथा साध्य का बाद में। लेकिन ऊपर हम देख चुके हैं कि अर्थापत्ति को अनुमान मानने पर लिंग और साध्य का यह संबंध स्थापित नहीं होता क्योंकि वहाँ बिना साध्य को स्वीकार किए लिंग की स्वीकृति संभव नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(5) अनुमान के लिए व्याप्ति आवश्यक है किन्तु अगर अर्थापत्ति अनुमान का रूप है तो प्रश्न यह उठता है कि यहाँ व्याप्ति की स्थापना कैसे होती है? यह व्याप्ति अन्वय के द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती है। जैसे, देवदत्त का दिन में उपवास करते हुए भी मोटा होने को देखकर उसके रात्रिभोजी होने की कल्पना है कि जहाँ–जहाँ मोटा होना पाया जाता है वहाँ–वहाँ रात्रि भोजी होना पाया जाता है। जो कि उचित नहीं है। अतः अर्थापत्ति अनुमान नहीं है।

(6) अनुमान और अर्थापत्ति एक दूसरे के विपरीत हैं। अनुमान में आधारवाक्य (आधार) से फल या परिणाम की ओर आते हैं, जबकि अर्थापत्ति में फल देखकर उसके कारण या आधार का ज्ञान होता है।

न्यायदर्शन के अनुसार भी अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में हो सकता है, इसीलिए न्याय दर्शन अर्थापत्ति को पृथक प्रमाण नहीं मानता। न्याय दर्शन तर्क प्रस्तुत करते हुए कहता है कि चैत्र के बहिर्भाव की कल्पना है–का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है–जीतिव चैत्र घर के बाहर है क्योंकि वह जीवित है और घर में नहीं है,। इस अनुमान में जीवित चैत्र पक्ष है, चैत्र का बहिर्भाव साध्य है और गृहाभाव हेतु है। किन्तु कुमारिल के मतानुसार उपर्युक्त अन्तर्भाव उचित नहीं है। क्योंकि चैत्र का गृहाभाव हेतु की कोटि में नहीं रखा जा सकता इसका कारण यह है कि हेतु (गृहाभाव) की विद्यमानता पक्ष (चैत्र) में सिद्ध नहीं की जा सकती। यहाँ तो केवल घर दिखाई दे रहा है, चैत्र नहीं। चैत्र जीवित है और घर पर नहीं है, यह बात तब तक सही नहीं मानी जा सकती, जब तक कि चैत्र को बाहर कहीं देख न लिया जाये।[14] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि यहाँ जिस को सिद्ध करना है (चैत्र घर पर नहीं है) वह वस्तु पहले दिखाई दे रही है और जिससे सिद्ध करना है, वह बाद में, जबकि अनुमान में हेतु पहले दिखाई देता है और साध्य बाद में। अतः यह अनुमान से पृथक् है।

वस्तुतः अनुमान और अर्थापत्ति का क्षेत्र पृथक् है इसमें किसी का किसी में अनतर्भाव नहीं हो सकता। अनुमान का करण व्याप्ति है, व्याप्ति के बिना अनुमान नहीं हो सकता। परंतु अर्थापत्ति में व्याप्ति की आवश्यकता नहीं रहती। यह कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति में भी व्यतिरेक–व्याप्ति है। परंतु अनुमान में व्याप्ति का ज्ञान पहले आता है। यदि व्याप्ति का ज्ञान पहले से न हो तो अनुमिति नहीं हो सकती। परंतु गृहाभाव और बहिर्भाव में व्याप्ति भी चैत्र के बहिर्भाव की कल्पना के बिना संभव नहीं। इस प्रकार चैत्र के बहिर्भाव का कारण वहिर्भाव का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि मान भी लिया जाय कि गृहाभाव और बहिर्भाव में व्याप्ति है तो इसका आधार भी बहिर्भाव का अर्थापत्तिमूलक ज्ञान ही है। इस प्रकार अर्थापत्ति निश्चित रूप से स्वतंत्र प्रमाण है। अर्थापत्ति का प्रयोग अनुपपत्ति का समाधान करके मस्तिष्क को हल्का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करने के लिए किया जाता है, जबकि अनुमान में अनुपपत्ति की समस्या खड़ी ही नहीं होती। प्रभाकर का यह कथन है कि अनुमान और अर्थापत्ति की प्रक्रियाएँ भिन्न–भिन्न हैं। पर्वत पर धूम (गमक) तब तक नहीं रह सकता, जब तक वहाँ आग (गम्य) विद्यमान न.हो। किन्तु अर्थापत्ति में यह क्रम उल्टा हो जाता है। यानी गम्य (रात्रिभोजन, बहिर्भाव आदि) की तब तक कल्पना नहीं की जा सकती जब तक कि गमक (पीनत्व, जीवितत्व आदि) का बोध न हो जाये।

इतना ही नहीं पार्थसारथि प्रभृति कुछ मीमांसकों का कहना है कि अनुमान का आधार व्याप्ति है और अर्थापत्ति का आधार है अनुपपत्ति अतः अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में संभव होने के बजाए अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में किया जा सकता है। वेदांत मतानुसार केवल व्यतिरेकी अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में संभव है। धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह विचार है कि व्यतिरेक अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में हो सकता है।[15] जैसे अनुमान के इस उदाहरण का कि पर्वत पर धुआँ है इसलिए पर्वत पर आग है'। इसका अन्तर्भाव निम्नलिखित रूप में अर्थापत्ति में किया जा सकता है–"पर्वत पर धुआँ है और पर्वत पर धुआँ की व्याख्या तब तक नहीं की जा सकती ज़ब तक कि पर्वत पर अग्नि की कल्पना नहीं की जाए। अतएव पर्वत पर अग्नि है।' किन्तु अगर इस भाँति प्रत्येक अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में कर दिया जाए तो अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। शास्त्रदीपिका में इसका उत्तर यह कह कर दिया गया है कि अनुमान और अर्थापत्ति में भेद है तथा दोनों ही स्वतंत्र और पृथक् प्रमाण हैं। वेदांत मतानुसार ऊपर के तर्क के द्वारा अनुमान को अर्थापत्ति द्वारा सिद्ध दिखलाने की चेष्टा के रूप में ही स्वीकृत किया जाना चाहिए न कि अनुमान का अर्थापत्ति के अन्तर्भाव के रूप में, क्योंकि ऊपर की अर्थापत्ति मात्र तभी वैध है जबकि यह मान लिया जाए कि जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ अग्नि है। किन्तु यह एक व्याप्ति है और व्याप्ति पर आधारित प्रमाण अनुमान ही हो सकता है न कि अर्थापत्ति। अतएव अनुमान और अर्थापत्ति को एक नहीं समझा जाना चाहिए।

4. अर्थापत्ति का शब्द में अन्तर्भाव

अर्थापत्ति को शब्द प्रमाण में अन्तर्भावित करने वाले विचारकों का मत है कि अर्थापत्ति अर्थ का बोध है। अर्थ का बोध शब्द प्रमाण में भी होता है। अतः अर्थापत्ति शब्द प्रमाण में अन्तर्भावित है। नैयायिकों के अनुसार श्रुतार्थापत्ति भी अनुमान से भिन्न नहीं है। अतः इसके पृथक् प्रमाणत्व को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु कुमारिल इसको अन्य सभी प्रमाणों से भिन्न मानते हुए कहते हैं कि अर्थापत्ति से इत्तर हमारे श्रोत्र अनुच्चरित वाक्यांश को सुनने की क्षमता नहीं रखते, अतः श्रुतार्थापत्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं हो सकता। लिंग का निर्धारण न होने के कारण इसको अनुमान भी नहीं कहा जा सकता। वाक्य के उच्चरित अंश के साथ अवशिष्ट अनुच्चरित अंश की कल्पना वैयाकरणिक आवश्यकता के कारण करनी होती है, अतः यहाँ वाक्य के एक अंश का अध्याहार करना होता है, न कि उससे निर्दिष्ट अर्थ का। उच्चरित और अनुच्चरित वाक्यांशों में सादृश्य न होने के कारण इसका उपमान में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। शब्द प्रमाण के संदर्भ में जो वाक्य प्रस्तुत किया जाता है, वह अपने आप में पूर्ण होता है किन्तु श्रुतार्थापत्ति के संदर्भ में प्रस्तुत वाक्य का कुछ अंश श्रुत होता है और कुछ कल्पित करना पड़ता है। इसके साथ ही 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्–क्ते' यह केवल नकारात्मक अर्थ का बोध कराता है सकारात्मक (रात्रि में खाता है) अर्थ के लिए वाक्यांश की कल्पना करनी ही होती है।

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार श्रुतार्थापत्ति में शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है, जबकि अद्वैत वेदांतियों के अनुसार इसमें कभी तो शब्द की कल्पना करनी होती है और कभी तथ्य की, जैसे कि 'द्वार' इतना सुनकर श्रोता को पिधेहि (बंद करो) इस शब्द की कल्पना करनी पड़ती है और देवदत्त दिन में नहीं खाता' इस वाक्य को सुनकर श्रोता को देवदत्त के रात्रिभोजन परक तथ्य की कल्पना करनी पड़ती है। किंतु प्रभाकर का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा भाट्ट मीमांसक जो कार्य करना चाहते हैं, वह तो शब्द की अभिधा शक्ति के व्यापार से ही संपन्न हो जाता है। अतः अर्थापत्ति को पृथक् प्रामाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार मीमांसक तथा वेदांती अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानने के पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं वहीं दूसरी तरफ वे भारतीय दार्शनिक संप्रदाय जो अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं–जैसे सांख्य योग तथा बौद्ध आदि दार्शनिक संप्रदाय अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में दिखलाते हैं। अर्थापत्ति के खंडन मंडन से एक नई बात सामने निकलकर आती है वह यह है कि अनुमान को प्रमाण मानने वाले दार्शनिक सप्रंदाय जब अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में दिखलाने की चेष्टा करते हैं तो मीमांसक तथा वेदांती पलटवार करते हुए अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में दिखलाकर अनुमान प्रमाण की स्वतंत्र प्रामाणिकता को ही खतरे में डाल देते हैं। पार्थसारथि मिश्र प्रभृति कुछ मीमांसक भी इसी प्रकार के तर्क प्रस्तुत करते हैं।

संदर्भ

1. वही,–"अर्थापत्ति दृष्टः श्रुतो वाअर्थोऽन्यथानोपपद्यते इत्यार्थकल्पना।
2. श्लोकवार्तिक (अर्थापत्ति), 1।2
3. श्लोकवार्तिक (अर्थापत्ति), 51
4. बृहती, पृ–85.श्रुतग्रहणमिदानी किमर्थम्? दृष्ट इत्येव वक्तव्यम्।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उच्चयते अभिद्यानान्तरेव (दृष्टश्श्रुतोवेति) उपलब्धे वचिकम।।

5. शाबरभाष्य, 1 |1 |5.अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोअन्यथा नोपपद्यत`इत्यर्थकल्पना, यथा जीवित देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बर्हिभावस्यादृष्टस्य कल्पना।
6. वेदांत परिभाषा (अर्थापत्ति) पृ–246
7. वही,–उपपाद्य ज्ञानेन उपपादकज्ञानम् अर्थापत्तिः।
8. वेदांत परिभाषा, अर्थापत्ति–"श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा–अभिधानानुपपतिः अभिहतानुपपत्तिश्च"।
9. तर्कभाषा, पृ–115.116
10. वाचस्पतिमिश्र, सांख्यकारिका टीका–5
11. वेदांत परिभाषा, पृ–315
12. शास्त्रदीपिका, पृ–79
13. वही, पृ–78
14. श्लोकवार्तिक, (अर्थापत्ति) 19
15. डॉ0 चक्रधर बिजल्वान–भारतीय न्यायशास्त्र, उत्तप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ 1998, पृ–411

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - VII

अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव

भारतीय दर्शन के प्रमुख नौ सप्रंदायों–सांख्य, योग, मीमांसा, वेदांत, न्याय, वैशेषिक, चार्वाक, जैन और बौद्ध में से मात्र दो संप्रदाय भाट्ट मीमांसक और वेदांती ही अनुपलब्धि को स्वंतत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। वेदांत और भाट्ट मीमांसा के मतानुसार अभाव का साक्षात ज्ञान अनुपलब्धि है। दूसरी ओर अन्य भारतीय दार्शनिक अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्ष या अनुमान जन्य प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। भाट्ट मीमांसकों और अद्वैत वेदांतियों का यह कथन है कि किसी स्थान विशेष पर कोई वस्तु विद्यमान न हो तो उस स्थान पर उस वस्तु का अभाव माना जाएगा और उस अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि नामक एक पृथक् प्रमाण से होता है। उदाहरणतया किसी ऐसे स्थान पर जहाँ हमने पहले घट देखा हो, यदि अन्य समस्त साधनों के विद्यमान होने पर भी घट न दिखाई दे रहा हो तो यह कहा जा सकता है कि इस समय उक्त स्थल पर घट का अभाव है और घट के अभाव का यह बोध अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है।

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन में अनुपलब्धि

वैशेषिकों के अनुसार वस्तुसत्ता के दो रूप होते हैं–भावरूप और अभाव रूप। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ भावरूप माने गये हैं। जबकि अभाव रूपिणी वास्तविकता की स्वीकृति के रूप में अभाव नामक सातवें पदार्थ की कल्पना की गई है।[1] वैशेषिक दर्शन के अनुसार, "भाव" पद के साथ नञ् उपसर्ग का समास होने पर "अभाव" पद की निष्पति होती है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार "अभाव" निषेधपरक प्रतीतियों का आश्रय है और इसका साधारण अर्थ है–किसी वस्तु का किसी स्थानविशेष पर न पाया जाना।[2] वैशेषिक दर्शन के अधिष्ठाता कणाद ऋषि ने जिन छः पदार्थों की चर्चा की है उनमें 'अभाव' पदार्थ की चर्चा नहीं है। इस संदर्भ में कुछ विद्वानों का यह मत है कि वैशेषिक सूत्र में कणाद ने 'असत्' को 'अभाव' के पर्यायवाची के रूप में स्वीकार किया है।[3] असत् की परिभाषा करते हुए कणाद ने कहा है कि जो सत् का विरोधी है वही असत् है।[4]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वैशेषिक दर्शन के परवर्ती आचार्यों, यथा प्रशस्तपाद आदि, ने कणाद के मूल छः पदार्थों में सातवें पदार्थ 'अभाव' की वृद्धि की। वैशेषिक अभाव को 'सापेक्ष पदार्थ' की कोटि में रखते हैं। अभाव को 'सापेक्ष पदार्थ' कहने का अर्थ यह है कि अभाव की धारणा अन्य पदार्थों के संदर्भ में ही बन पाती है। 'निरपेक्ष अभाव' एक छद्म संप्रत्यय है। इस अर्थ में 'अभाव' न तो सत् है न असत्। यद्यपि, वेदांतियों की भाँति अभाव को 'सत' और 'असत्' की कोटि से परे रखने के उपरांत भी वैशेषिक 'अभाव' को 'अनिर्वचनीय' नहीं कहते। वैशेषिक एक विशेष अर्थ में अभाव को 'साक्षेप पदार्थ' की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः वैशेषिक एक यथार्थवादी दर्शन है। वैशेषिक का यह यथार्थवाद उनकी ज्ञानमीमांसा में भी स्थायी भाव से उपस्थित होता है। वैशेषिक ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद के अनुसार ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों ही यथार्थ और स्वतंत्र हैं। भावात्मक वस्तु, यथा घट के ज्ञान में 'घट' भी उपस्थित होता है तथा 'वस्तु का ज्ञान' (घट का ज्ञान) भी उपस्थित होता है, जबकि दूसरी ओर 'अभाव' यथा 'घट—नहीं' के ज्ञान में घट—नहीं' का ज्ञान तो उपस्थित होता है, किन्तु 'घट—नहीं' स्वयं उपस्थित नहीं होता। वस्तुतः, वैशेषिक मतानुसार 'घट—नहीं' या 'घट के अभाव' का ज्ञान 'घट' के संदर्भ में ही संभव है, अतः 'अभाव' न तो पूर्णतः सत् है न असत्। इसी अर्थ में वैशेषिक अभाव को 'सापेक्ष' पदार्थ कहते हैं।

इस प्रकार वैशेषिक अभाव को भाव के संदर्भ में समझने की चेष्टा करते हैं। कुछ नैयायिक भी 'अभाव' को इसी अर्थ में स्वीकृत करते हैं। वर्धमान उपाध्याय और शशिधर आचार्य के अनुसार वैशेषिक के छः पदार्थों की अनुपस्थिति 'अभाव' है। यहाँ प्रश्न है कि क्या 'अभाव' छः पदार्थों की अनुपस्थिति मात्र है? यदि 'अभाव' को इस प्रकार के भाव पदार्थों के संदर्भ में समझने की चेष्टा की जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि अभाव 'भाव' को संदर्भित करता है। किन्तु तब यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होगा कि यदि 'अभाव' भाव को संदर्भित करता है तो अभाव और भाव में क्या भेद होगा? यदि 'घट' भी घट (वस्तु) को सूचित करता है तथा 'अ—घट' या 'घट का अभाव' भी 'घट' (वस्तु) को ही सूचित करता है तो 'घट के भाव' तथा 'घट के अभाव' में क्या भेद होगा? इस प्रश्न का सर्वाधिक सटीक और महत्वपूर्ण उत्तर वात्स्यायन ने दिया है। वात्स्यायन के मतानुसार 'घट का भाव' भावात्मक बोध की विषय वस्तु है तथा 'घट का अभाव' अभावात्मक बोध की विषय—वस्तु है।

वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने अभाव का एक पृथक् पदार्थ के रूप में उल्लेख न करने पर भी उसके चार प्रकारों का परिगणन स्पष्ट रूप से किया और यह भी बताया कि अभाव के ये चारों भेद प्रत्यक्षगम्य हैं।[5] इसके विपरीत प्रशस्तपाद ने यह कहा कि अभाव अनुमान का विषय है।[6] लेकिन किरणावली में यह भी कहा गया है कि अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से भी हो सकता है और अनुमान से भी।[7] तथापि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्यायवैशेषिक की सामान्य मान्यता यह है कि अभाव प्रत्यक्षगम्य है। विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्षमूलक प्रत्यक्ष से अभाव का प्रत्यक्ष होता है। उद्योतकर ने ही संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय तथा विशेषण–विशेष्य भाव इन छः सन्निकर्षों का विधिवत् परिगणन किया।[8] प्रथम तीन सन्निकर्ष संयोग संबंध पर, चतुर्थ और पंचम समवाय संबंध पर, तथा अंतिम सन्निकर्ष विशेषणता पर आधारित है। प्रथम से द्रव्य का, द्वितीय से गुण कर्म का, तृतीय से गुणों की जाति यानी गुणत्व का, चतुर्थ से शब्द गुण का, पंचम से शब्दत्व का, तथा छठे से अभाव का प्रत्यक्ष होता है।[9]

न्याय–वैशेषिक दर्शन का मत है कि अभाव का सीधा प्रत्यक्ष नहीं होता। बल्कि अभाव का प्रत्यक्ष उसके आश्रय द्रव्य के विशेषण के रूप में होता है।[10] उद्योतकर तो स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, उसी से उस वस्तु की जाति तथा अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है।[11] नैयायिकों का कहना है कि "अभाव अवस्तु है, किन्तु उसके साथ सन्निकृष्ट न होने पर भी चक्षु से अभाव की प्रतीति तो होती ही है। इस प्रकार अभाव का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। रूप के न होने और साक्षात् चक्षुसंयोग के न होने पर विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष होता है।

न्याय मतानुसार अभाव अधिष्ठान का विशेषण (विधेय या गुण) मात्र है। 'पृथ्वी में गंध है'–यह भावात्मक कथन न्याय मतानुसार पृथ्वी में 'गंध' की विशेषता अथवा गुण का कथन करता है। इसी भाँति 'जल में गंध नहीं है'–यह कथन 'जल' में 'गंध के अभाव' की विशेषता अथवा गुण को बतलाता है। न्याय मतानुसार चूँकि अभाव की स्वयं निरपेक्ष वस्तुपरक सत्ता नहीं है तथा यह अधिष्ठान का विशेषण मात्र है अतः अधिष्ठान के ज्ञान के साथ ही 'अभाव' या 'अधिष्ठान पर वस्तु के अभाव' का ज्ञान होता है। 'इस भूमि पर घट नहीं है'–'घट' के अभाव का यह ज्ञान' भूमि के ज्ञान से संयुक्त है। जैसे ही और जिस प्रकार से 'भूमि' का ज्ञान होता है वैसे ही और उसी प्रकार से भूमि पर 'घट के अभाव' का ज्ञान भी हो जाता है। इस प्रकार नैयायिक अभाव के ज्ञान को भी प्रत्यक्षजन्य ज्ञान ही कहते हैं। न्याय मतानुसार जिस प्रकार भूमि के प्रत्यक्ष से उसकी लंबाई, चौड़ाई आदि का ज्ञान होता है उसी प्रकार भूमि के प्रत्यक्ष से उस पर 'घट के अभाव' जैसे अभावात्मक गुणों का भी प्रत्यक्ष हो जाता है।

यद्यपि न्यायमत प्रत्यक्ष को 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानम्' के रूप में परिभाषित करता है। किंतु यहां प्रश्न यह उठता है कि अभाव जो अनुपस्थित है उसका इन्द्रिय सन्निकर्ष कैसे संभव होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नैयायिक कहते हैं कि यह एक विशेष प्रकार का सन्निकर्ष है। न्याय मतानुसार वस्तु के विशेषण का ज्ञान भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष से ही संभव होता है तथा विशेषण का इन्द्रिय सन्निकर्ष एक विशेष प्रकार से होता है।

नैयायिक अभाव की जो ज्ञानमीमांसीय व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, उस व्याख्या की संगति नैयायिकों की तत्त्वमीमांसा से नहीं बैठ पाती। क्योंकि नैयायिक एक ओर तो अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्षजन्य कहते हैं तथा दूसरी ओर प्रत्यक्ष को 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान' की संज्ञा देते हैं। इस संदर्भ में प्रश्न यह उठता है कि 'जो है' उस अर्थ या विषय का तो इन्द्रिय से संपर्क संभव होगा, किन्तु जो नहीं है (अभाव) उसका इन्द्रिय से सन्निकर्ष कैसे संभव होगा? ऐसी स्थिति में नैयायिक या तो यह स्वीकार करें कि अभाव का ज्ञान किसी प्रत्यक्षेत्तर साधन से होता है अथवा प्रत्यक्ष विषयक अपनी परिभाषा को परिवर्तित करें। इस आक्षेप के उत्तर में नैयायिक यह कहते हैं कि अभाव के प्रत्यक्ष की स्थिति में इन्द्रिय से विषय का संपर्क 'असाधारण' होता है। वस्तुतः न्याय मतानुसार अभाव एक प्रकार का सापेक्ष पदार्थ है, तथा इसका ज्ञान अधिष्ठान की विशेषता के रूप में होता है। जैसे, भूमि के प्रत्यक्ष से जिस प्रकार भूमि की अन्य विशेषताओं, यथा लंबाई, चौड़ाई आदि का ज्ञान होता है उसी प्रकार भूमि के प्रत्यक्ष से ही भूमि पर घट के 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार न्याय मतानुसार, अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है, इसके लिए 'अनुपलब्धि' को प्रमाण स्वरूप स्वीकार करना अनावश्यक या अनुचित है।[12]

2. बौद्ध दर्शन में अनुपलब्धि

बौद्धों के अनुसार अभाव कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। इसीलिए इसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। 'यहाँ घट नहीं है' यह वाक्य "खाली भूतल" का संकेत करता है, "घट का न होना" इसका तो कभी भी प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। अभाव या निषेध का तो केवल अनुमान किया जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर अभाव केवल "खाली भूतल" है और तार्किक दृष्टि से विचार करने पर अभाव "खाली भूतल" का ज्ञान है।[13] बौद्ध विशेषण–विशेष्य भाव जैसे किसी सन्निकर्ष को भी स्वीकार नहीं करते। वे अभाव को एक मानसिक कल्पना मानते हैं, बाह्य वास्तविकता नहीं।

प्रत्ययवादी बौद्धों का अभाव विषयक मत यथार्थवादी नैयायिकों के मत से सर्वथा भिन्न है। न्याय वैशेषिक अभाव को 'सापेक्ष पदार्थ' कहते हैं। यथार्थवादी नैयायिकों के अनुसार निषेध की यथार्थ वस्तुपरक सत्ता है, यद्यपि यह सत्ता स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं है। इसके ठीक विपरीत बौद्ध 'अभाव' की वस्तुपरक सत्ता का खंडन करते हैं। बौद्ध मतानुसार 'अभाव' की समस्या तत्त्वमीमांसीय न होकर ज्ञानमीमांसीय समस्या है। बौद्धों के अनुसार अभाव विषयक प्रश्न यह नहीं है कि 'अभाव' क्या है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपितु अभाव–विषयक प्रश्न यह है कि अभाव (यथा घटाभाव) का ज्ञान कैसे होता है? बौद्ध मतानुसार अभाव की समस्या एक भाषागत्त समस्या है जो शब्दों के भ्रामक स्वरूप के कारण या अभिव्यक्ति दोष के कारण उत्पन्न होती है। बौद्ध तार्किकों के मतानुसार 'अभाव' कोई वस्तु या तत्त्व नहीं है। यह एक आत्मनिष्ठ प्रत्यय है जो किसी देशकाल विशेष में किसी 'वस्तु' विशेष की अनुपस्थिति से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ कोई ज्ञाता जब किसी वस्तु, यथा घट, को किसी स्थान विशेष में देखना (पाना) चाहता है, किन्तु उसे देख नहीं पाता (घट का अदर्शन) तो उसे वह 'वस्तु के अभाव' (घटाभाव) की संज्ञा दे देता है। इस प्रकार बौद्ध मतानुसार अभाव का विचार एक ऐसी अनुभूति से उत्पन्न होता है, जो अनुभूति ज्ञाता की चेतना में सम्पन्न नहीं हो पाती।

बौद्ध विज्ञानवादियों के अनुसार 'घट का अदर्शन' 'घट के अभाव' का द्योतक नहीं है। वस्तुतः इस स्थान पर घट का अदर्शन होने पर भी अन्यत्र वह घट उपस्थित है, अतः 'घट का अभाव' वस्तुतः असंभव है। इसी रूप में 'अभाव' शब्दबोधगम्य होने के बावजूद असंभव है। आचार्य धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु तथा प्रमाणवार्तिक में 'अनुपलब्धि' की विस्तरपूर्वक व्याख्या की है। न्यायबिन्दु के अनुसार सम्यक् ज्ञान से ही समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। इस सम्यक्–ज्ञान के दो रूप हैं–प्रत्यक्ष और अनुमान। इनमें कल्पनारहित निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। जिसका विषय स्वलक्षण हैं। अनुमान, पुनः दो प्रकार के हैं–स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। इनमें त्रिरूपलिंग से प्राप्त अनुमेय के ज्ञान को स्वार्थानुमान तथा त्रिरूपलिंग का कथन परार्थानुमान है। त्रिरूपलिंग का ग्रहण तीन प्रकार से अथवा तीन रूपों में होता है–स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि। इस प्रकार बौद्ध मत में अनुपलब्धि को त्रैरूप्य लिंग का एक रूप कहा गया है।

अनुपलब्धि की व्याख्या करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि उपलब्धि–लक्षण–प्राप्त वस्तु का किसी स्थान विशेष में अनुपलब्ध होना अनुपलब्धि है।[14] जैसे 'घट' नामक वस्तु में उपलब्धि लक्षण है (अर्थात् यह दृश्यमान अथवा स्पृश्यमान है) किन्तु इस स्थान पर 'घट' वस्तु का नहीं दिखना 'घट' की अनुपलब्धि है। इस प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार अनुपलब्धि 'अभाव' अथवा 'असत्' को नहीं बतलाता वरन् अनुपलब्धि 'सत्' को ही संदर्भित करती है। अनुपलब्धि का अर्थ 'योग्यानुपलब्धि' है, अर्थात् जिस वस्तु में उपलब्ध होने की योग्यता हो (भाव–रूप घट) उसका न होना (ज्ञान न होना) अनुपलब्धि है। स्पष्टतः धर्मकीर्ति के अनुसार 'अभाव' कोई तत्त्वमीमांसीय समस्या नहीं वरन् यह एक ज्ञानमीमांसीय तथ्य है।

बौद्ध क्षणभंगवाद के अनुसार 'सत्' स्थायी नहीं। यह एक निरंतर परिवर्तनशील अस्थायी प्रवाह मात्र है, जो उत्पन्न होने के साथ नष्ट होता है और नष्ट होने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ उत्पन्न होता है। वस्तुतः यह 'सत्' इस प्रकार क्षणिक और विलक्षण है कि इसे 'क्षणिक' का नाम भी नहीं दिया जा सकता तथा न ही 'उत्पाद' तथा 'विनाश' शब्द इसे संदर्भित कर पाते हैं। यह सत् इतना क्षणिक और निःस्वभाव है कि इसे 'सत्–असत्' अथवा 'भाव–अभाव' की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। यह सत् 'अविछिन्न' है अतएव इसे भाव–अभाव में बाँटा भी नहीं जा सकता। 'भाव' और 'अभाव' तो वस्तुतः एक ही वस्तु की अभिव्यक्ति के दो रूप मात्र हैं। इस प्रकार बौद्ध मतानुसार 'अभाव' अथवा 'निषेध' की कोई वस्तुपरक सत्ता नहीं। तथापि इसे बांध्या–माता' की तरह 'असत्' भी नहीं का जा सकता। 'अभाव' से हमारी व्यावहारिक अपेक्षाओं की पूर्ति होती है, अतएव अभाव अर्थक्रियाकारित्व सम्पन्न है। अर्थक्रियाकारित्व सम्पन्न होने के कारण ही अभाव को 'असत्' नहीं कहा जा सकता। साथ ही यह 'असत्य' भी नहीं। वस्तुतः अभाव की ज्ञानमीमांसीय स्थिति है। 'अभाव' एक अवधारणा है जो अवधारणा मानसिक निर्मिति (Mental construct) अथवा 'कल्पना की उत्पत्ति' है।

बौद्ध मतानुसार भाव और अभाव के बोध का भेद प्रकारमूलक न होकर मात्रामूलक होता है। इन दोनों प्रकार के अवबोधों में 'सत्' और 'कल्पना' के सम्मिश्रण में मात्रा भेद होता है, प्रकार भेद नहीं। बौद्ध मत स्पष्ट कहता है कि भाव और अभाव में कोई तात्त्विक भेद नहीं। निषेधात्मक और भावात्मक अभिकथन एक ही वस्तु की दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हैं। चूँकि भाव और अभाव में कोई तात्त्विक भेद नहीं, अतः बौद्ध मतानुसार जिस प्रमाण से वस्तु की उपस्थिति को जाना जाता है उसी प्रमाण से वस्तु की अनुपस्थिति को भी जान लिया जाता है। इस प्रकार बौद्ध अनुपलब्धि प्रमाण का खंडन करते हैं।

3. मीमांसा दर्शन में अनुपलब्धि

अभाव के विषय में प्राभाकर मीमांसकों का मत बौद्ध प्रत्ययवादियों के मत के समकक्ष है। प्राभाकर अभाव की वस्तुपरक सत्ता को अस्वीकार करते हैं। प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार अभाव 'गो' 'घट' आदि वस्तुओं की भाँति यथार्थ नहीं हैं। किसी प्राक्कल्पित वस्तु के अदर्शन से अभाव की धारणा उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, यदि इस कमरे में हम घट का दर्शन करना चाहते हैं तथा घट का दर्शन न कर पाएँ तो 'घट के अभाव' की धारणा का जन्म होता है। इस प्रकार 'अभाव' और रिक्ताधिष्ठान (खाली स्थान) दोनों एक ही हैं। यह कहना कि 'यहाँ पर घट का अभाव है' यह कहने के समान है कि 'यह अधिष्ठान घट से रिक्त है।' स्पष्टतः प्राभाकर मीमांसक भी नैयायिकों की भाँति 'अभाव' को 'अधिष्ठान' के संदर्भ में ही व्याख्यायित करने की चेष्टा करते हैं। लेकिन नैयायिकों और प्राभाकरों के बीच भेद मात्र इतना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि नैयायिक अभाव को 'अधिष्ठान का विशेषण या गुण' कहते हैं जबकि प्राभाकर अभाव को 'अधिष्ठान की रिक्तता' के द्वारा परिभाषित करते हैं।

प्राभाकर मतानुसार अधिष्ठान का ज्ञान चूँकि प्रत्यक्ष द्वारा होता है और चूँकि अभाव 'रिक्ताधिष्ठान' है' अतः अभाव का ज्ञान भी प्रत्यक्षजन्य ही है। अभाव का ज्ञान किसी 'निषेधात्मक सत्ता का भावात्मक ज्ञान' न होकर 'भाववात्मक सत्ता का निषेधात्मक ज्ञान' है। यहाँ 'निषेधात्मक ज्ञान' के विषय में भी प्राभाकर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि निषेधात्मक ज्ञान भी एक प्रकार का शब्द जाल है। वस्तुतः ज्ञान तो सदैव भावात्मक ही होता है। जिसे हम 'निषेधात्मक ज्ञान' कहते हैं, वह भी वस्तुतः भावात्मक ही है। ध्यातव्य है कि प्राभाकर मीमांसक यद्यपि अभाव या निषेध की वस्तुपरक सत्ता नहीं मानते और स्वीकार करते हैं कि अभावात्मक कथन किसी भी 'यथार्थ तथ्य' को सूचित नहीं करते, तथापि प्राभाकर मतानुसार निषेधात्मक कथन भी वैध हो सकते हैं। इन निषेधात्मक कथनों की वैधता इसमें निहित नहीं होती है कि ये कथन किसी निषेधात्मक या अभावात्मक तथ्य' को सूचित करते हैं, बल्कि इन कथनों की वैधता इसलिए स्वीकार्य है कि ये कथन 'सत्ता' को सूचित करते हैं, जो सत्ता सदैव भावात्मक है। वेदांतियों और भाट्ट मीमांसकों ने अभाव विषयक प्राभाकरों के इस मत पर निम्नलिखित आक्षेप प्रस्तुत किए हैं–

1. रिक्त आधार या रिक्त अधिष्ठान मात्र के प्रत्यक्ष से अभाव का ज्ञान सम्पन्न मानने में कठिनाई है। 'रिक्त आधार' का अर्थ है 'वह आधार जिसमें प्रत्येक वस्तु का अभाव होगा।' ऐसी स्थिति में रिक्त आधार के प्रत्यक्ष से 'यहाँ घट नहीं है' का ही ज्ञान क्यों होता है?

2. यदि भूतल पर कोई भी वस्तु (यथा घट) उपस्थित है तो इसे 'रिक्ताधार' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वैसी भूमि, जिस पर 'पट' तो उपस्थित है किन्तु 'घट' नहीं, उसे देखकर 'यहाँ घट नहीं है' का बोध किस प्रकार होता है?

3. प्राभाकर मत से ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'रिक्त आधार' और 'वस्तु के अभाव' को एक ही मानते हैं, किन्तु वेदांत मतानुसार 'रिक्ताधार' और 'वस्तु के अभाव' में भेद है। रिक्ताधार का अर्थ है वह आधार जिस पर सभी वस्तुओं का अभाव हो, अर्थात् वस्तुओं के अभाव का आधार'। 'वस्तु के अभाव' तथा वस्तुओं के अभाव का आधार'–इन दोनों में भेद हैं।

4. वेदांत मतानुसर 'रिक्ताधार' का अर्थ है 'वस्तुओं के अभाव का आधार'। प्राभाकर यह समझते हैं कि 'रिक्तधार' का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है जबकि वस्तुतः आधार अथवा अधिष्ठान का ज्ञान तो प्रत्यक्ष से संभव है किन्तु 'आधार के रिक्त होने' का ज्ञान वस्तुतः 'अभाव' का ज्ञान है, न कि यह 'आधार' का ज्ञान है। वेदांत के अनुसार 'अभाव' का यह ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा होता है। जब तक 'आधार में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभाव' का ज्ञान न हो तब तक रिक्ताधार का ज्ञान भी संभव नहीं। इस प्रकार रिक्ताधार का ज्ञान ही अनुपलब्धि के बिना संभव नहीं है।

लेकिन कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायियों का अभाव विषयक मत प्राभाकर मीमांसकों की अपेक्षा न्याय वैशेषिक मत के अधिक निकट प्रतीत होता है। जहाँ एक ओर प्राभाकर अभाव की तत्त्वमीमांसीय सत्ता को नकारते हैं तथा ज्ञानमीमांसीय रूप से 'अभाव' के ज्ञान का साधन 'प्रत्यक्ष' को बतलाते हैं वहीं दूसरी ओर न्याय वैशेषिक 'अभाव' की वस्तुपरक (तत्त्वमीमांसीय) सत्ता को स्वीकार करते हैं तथा ज्ञानमीमांसीय रूप से अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्ष अथवा अनुमानजन्य बतलाते हैं। इन दो मतों के बीच कुमारिल भट्ट तथा उनके समर्थक नैयायिकों की ही भाँति अभाव की वस्तुपरक सत्ता को तो स्वीकार करते हैं किन्तु दूसरी तरफ नैयायिकों से भिन्न वेदांतियों की भाँति अभाव के ज्ञान के प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि को भी स्वीकार करते हैं।

भाट्ट मीमांसा के मतानुसार भाव और अभाव एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं।[15] इस प्रकार जितना सत्य 'भाव' है उतना ही सत्य 'अभाव' भी है। 'अभाव' का ज्ञान प्रत्यक्षादि अन्य पाँच प्रमाणों से नहीं होता।[16] अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। भाट्ट मीमांसक एक तरफ न्याय वैशेषिकों के इस मत का खंडन करते हैं कि अभाव अधिष्ठज्ञन की विशेषता है। वहीं दूसरी ओर भाट्ट मीमांसक सांख्यों और प्राभाकरों के इस मत का भी खंडन करते हैं कि अभाव 'रिक्ताधिष्ठान' है। भाट्ट मीमांसक अभाव को 'अधिष्ठानातिरिक्त तत्त्व' (अधिष्ठान के अतिरिक्त स्वतंत्र वस्तु) कहते हैं। भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है। अनुपलब्धि प्रमाण प्रत्यक्षादि अन्य पाँच प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति से भिन्न है। इन पाँच प्रमाणों से जहाँ 'भाव' का या सत्ता के भाव पक्ष का ज्ञान होता है वहाँ अनुपलब्धि से सत्ता के अभाव पक्ष का ज्ञान होता है।

जहाँ तक 'सत्ता' के स्वरूप का प्रश्न है—कुमारिल और प्राभाकर दोनों ही 'सत्ता' को 'यथार्थ' के पदों में समझने की चेष्टा करते हैं। इन दोनों के अनुसार 'सत्ता' यथार्थ है। साथ ही प्राभाकर और भाट्ट दोनों ही यह मानते हैं कि भाव और अभाव एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं किन्तु इन दोनों संप्रदायों का मतभेद भाव और अभाव के संबंध को लेकर प्रारम्भ होता है। प्राभाकर मीमांसक जहाँ यह मानते हैं कि 'भाव' ही सत्य है तथा अभाव या निषेध का अन्तर्भाव अन्ततः 'भाव' में होता है, वहीं कुमारिल तथा उनके समर्थक यह मानते हैं कि सत्य मात्र 'सत्ता' है और उस सत्ता के संदर्भ में 'भाव' उतना ही सत्य है जितना कि 'अभाव'। साथ ही कुमारिल यह भी स्थापित करने की चेष्टा करते हैं कि भाव का अभाव में तथा अभाव का भाव में अन्तर्भाव संभव नहीं। सत्ता के संदर्भ में वे भाव और अभाव दोनों को ही अपरिहार्य मानते हैं क्योंकि भाव और अभाव दोनों ही सत्ता को दो विविध पक्षों या रूपों में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिव्यक्त करते हैं। प्राभाकर और कुमारिल मत में दूसरा भेद यह है कि प्राभाकर जहाँ अभाव को 'रिक्त अधिष्ठान के रूप में परिभाषित करते हैं वहीं कुमारिल अभाव को 'अधिष्ठानातिरिक्त तत्त्वम्' कहते हैं। इन दोनों मतों में तीसरा और अत्यधिक महत्वपूर्ण भेद यह है कि जहाँ प्राभाकर अभाव को प्रत्यक्षगम्य मानते हैं वहीं कुमारिल का मानना है कि अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा जाना जाता है।

4. वेदांत दर्शन में अनुपलब्धि

अद्वैत वेदांतियों का मानना है कि किसी स्थान विशेष पर कोई वस्तु विद्यमान न हो तो उस स्थान पर उस वस्तु का अभाव माना जाएगा और उस अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि नामक एक पृथक् प्रमाण से होगा। उदाहरणतया किसी ऐसे स्थान पर जहाँ हमने पहले घट देखा हो, यदि अन्य समस्त साधनों के विद्यमान होने पर भी घट न दिखाई दे रहा हो तो यह कहा जा सकता है कि इस समय उक्त स्थल पर घट का अभाव है और उस अभाव का बोध अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ज्ञान रूपी करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है। धर्मराजाध्वरीन्द्र का मानना है कि ईश्वर, काल, अदृष्ट आदि की कारणता तो सभी कार्यों के साथ रहती है, अतः उनका परिहार करने के लिए अनुपलब्धि के लक्षण में 'असाधारण' शब्द का समावेश करना आवश्यक है। वे यह भी कहते हैं कि प्रत्यक्ष योग्य वस्तु के ही अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है, न कि प्रत्यक्षा योग्य वस्तु के अभाव का भी।[17]

वस्तुतः वेदांतियों का मानना है कि ज्ञान के कारणों के रहते हुए भी ज्ञानयोग्य पदार्थ का ज्ञान न होना उस पदार्थ के अभाव के ज्ञान का कारण होता है। जैसे कभी–कभी अत्यंत दूरवर्ती पदार्थ का भी ज्ञान नहीं हुआ करता, किन्तु उसका अभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि वह ज्ञान के योग्य ही नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि ज्ञानयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि ही उस पदार्थ के अभाव को सिद्ध कर सकती है न कि ज्ञान अयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि। वेदांत मतानुसार अभाव के ज्ञान के कई साधन हो सकते हैं, जैसे 'इस समय देवदत्त वन में है' इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि 'इस समय देवदत्त घर में नहीं है'। इस प्रकार कभी–कभी एक वस्तु को अन्यत्र उपस्थित जानकर किसी अन्य स्थान विशेष में इसके अभाव का ज्ञान होता है। अभाव का यह ज्ञान अनुमानजन्य है। दूसरी ओर कुछ स्थितियों में अभाव का ज्ञान शब्दों के माध्यम से भी होता है, यथा मेरे इस कथन से कि 'इस समय मेरे सिर में दर्द नहीं है' क्या आपको मेरे सिर में दर्द के अभाव का ज्ञान होता है? यह ज्ञान मेरे लिए भले अनुभूतिजन्य हो, आपके लिए शब्दजन्य ही है। इनके अतिरिक्त कुछ स्थितियों में एक भिन्न प्रकार से भी अभाव का ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है, यथा इस समय इस कमरे में वृक्ष की अनुपस्थिति (अभाव) का ज्ञान। वेदांत मतानुसार यह ज्ञान न तो प्रत्यक्षजन्य है, न अनुमान अथवा शब्दजन्य। इसे ही वेदांती 'अनुपलब्धि' प्रमाण मानते हैं।

वेदांत मतानुसार अनुपलब्धि अभाव का साक्षात ज्ञान है। उदाहरणार्थ 'यहाँ वृक्ष नहीं है', यहाँ वृक्ष के अभाव का ज्ञान एक साक्षात ज्ञान है। तथापि अनुपलब्धि 'प्रत्यक्ष ज्ञान' से भिन्न है। वेदांत मतानुसार घट के अभाव का ज्ञान घट के अदर्शन (अन्+उपलब्धि) के कारण होता है। अतः घट के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। वेदांत परिभाषा में अनुपलब्धि की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ज्ञानरूप करण से उत्पन्न न होने वाले अभाव के अनुभव का जो असाधारण करण हो वही अनुपलब्धि कहलाता है।[18] इसी अर्थ में वेदांती अनुपलब्धि को प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भिन्न मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण या प्रमा किसी–न–किसी विषय रूप करण से (यथा घटादि से) उत्पन्न होते हैं जबकि अनुपलब्धि का करण असाधारण (यथा 'घट का अभाव') होता है। वेदांत मतानुसार अनुपलब्धि ज्ञान का एक स्वतंत्र साधन है। उनके अनुसार किसी भी प्रमाण की अनुपस्थिति स्वयं ही अभाव का एक प्रमाण या अनुपलब्धि है।

वेदांतियों के अनुसार सभी प्रकार की अनुपलब्धि को ज्ञान का साधन या प्रमाण नहीं माना जा सकता। अगर कक्ष में पर्याप्त प्रकाश न होने के कारण ज्ञाता को भूमि पर रखे घट का प्रत्यक्ष न हो रहा हो तो इसे अनुपलब्धि नहीं कहेंगे। वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण या प्रमाणों की कुछ उपाधियाँ उपस्थित हों तथा वस्तु के भाव के पक्ष में कोई प्रमाण न मिले तभी वस्तु का अभाव माना जाना चाहिए और तभी उस प्रमाण को 'अनुपलब्धि' की संज्ञा दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, जिस परिस्थिति में जिस वस्तु की उपलब्धि होनी चाहिए उन परिस्थितियों में अगर उस वस्तु की उपलब्धि न हो तभी इसे अनुपलब्धि की संज्ञा दी जा सकती है। अतएव 'योग्यानुपलब्धि' ही प्रमाण है।

6. अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव

नैयायिक अनुपलब्धि का प्रमाणत्व स्वीकार नहीं करते उनके मतानुसार अनुपलब्धि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में हो जाता है। उनका यह कथन है कि 'यदि यह घड़ा होता तो भूतल के समान वह दिखाई देता'। इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से ही भूतल में घटाभाव का ज्ञान भी हो जाता है। अतः अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।[19]

लेकिन यहां शंका की जा सकती है कि चक्षु से अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ स्वसम्बद्ध अर्थ का ही ग्रहण करती हैं और अभाव के साथ चक्षु का कोई संबंध नहीं है। संबंध दो ही होते हैं–संयोग और समवाय। संयोग संबंध दो द्रव्यों के बीच होता है जबकि अभाव द्रव्य नहीं है। समवाय संबंध भी दो अयुतसिद्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पदार्थों के मध्य रहता है, जबकि चक्षु और अभाव एक दूसरे की अनुपस्थिति में भी विद्यमान रहते हैं। नैयायिकों ने उपर्युक्त आपत्ति के समधान के लिए 'विशेषण–विशेष्यभाव' नामक एक नये संबंध की कल्पना की और इसी संबंध के आधार पर अभाव को प्रत्यक्षगम्य माना। जैसे 'भूतल घटाभाव से विशिष्ट है' इस कथन में घटाभाव विशेषण और भूतल विशेष्य है तथा घटाभाव भूतल से विशिष्ट है इस कथन में भूतल विशेषण तथा घटाभाव विशेष्य है। इस प्रकार नैयायिकों के मतानुसार चक्षु का संबंध घटाभाव के साथ भूतल के माध्यम से मानने में कोई बाधा नहीं है। परिणामस्वरूप इस नियम के होते हुए भी 'इन्द्रियाँ स्वसम्बद्ध अर्थ का ग्रहण करती हैं' तथा इन्द्रियों से अभाव का ग्रहण किया जा सकता है।

नैयायिकों द्वारा उपर्युक्त रूप से प्रस्तुत 'विशेषणविशेष्यभाव' पर वेदांतियों आदि द्वारा यह आपत्ति की जाती है कि यह कोई संबंध नहीं है क्योंकि इस पर संबंध के लक्षण घटित नहीं होते। संबंध वह कहलाता है, जो दो व्यक्तियों पर आश्रित हो, आश्रयभूत दोनों व्यक्तियों से भिन्न हो और स्वयं एक हो। ये तीनों बातें विशेषण विशेष्यभाव पर नहीं घटती। किंतु नैयायिकों का कथन है कि 'विशेषण–विशेष्य भाव' में संबंधत्व न होने पर भी उसमें संबंधत्व का अभिनिरूपणीयत्व (विशेषण–विशेष्य युगल बोध्य) रूप साधर्म्य है। अतः यह उपचारवश संबंध कहला सकता है। नैयायिकों का यह भी कथन है कि 'इन्द्रिय स्वसम्बद्ध अर्थ का ही ग्रहण करती है'–यह नियम केवल भावात्मक पदार्थों के लिए है। अभाव का ग्रहण तो उसके साथ इन्द्रिय का संबंध हुये बिना ही विशेषण विशेष्यभाव के आधार पर हो जाता है।[20] किंतु इस संदर्भ में यह आशंका भी की जाती है कि इन्द्रिय से यदि असम्बद्ध अभाव का ग्रहण माना जायेगा तो किसी एक सन्निहित स्थान पर किसी एक अभाव के ग्रहण के समय असन्निहित स्थानों में विद्यमान अन्य सभी अभावों के ग्रहण का अतिप्रसंग उपस्थित हो जाएगा।

बौद्धों के अनुसार भी विशेषण विशेष्य भाव को संबंध नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनकी दृष्टि से यह काल्पनिक है। अभाव का उस वस्तु के साथ कोई सह अस्तित्व या समन्वय नहीं हो सकता जिसका कि अभाव बताया जाता है। यदि घट किसी समय किसी स्थान पर है तो उस समय उस स्थान पर उसके अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता और यदि वह नहीं है तो उस समय उस स्थान पर घट के अस्तित्त्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार भी अनुपलब्धि प्रत्यक्ष से भिन्न है। इस मत के अनुसार अभाव कोई वस्तु नहीं है, अतः इसका इन्द्रिय के साथ संपर्क संभव नहीं, फलतः इसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में नैयायिक कहते हैं कि अभाव एक प्रकार का पदार्थ है और अभाव के ज्ञान के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष एक विशेष प्रकार से होता है जिसे वे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'विशेषणता' कहते हैं। न्याय मत के अनुसार विशेष्य–विशेषण रूप में अभाव का ज्ञान अधिष्ठान के विशेषण के रूप में होता है। जैसे इस स्थल पर घट का अभाव है।' यहाँ इन्द्रिय से इस स्थल का संपर्क होता है और 'घट के अभाव' का ज्ञान उसके विशेषण के रूप में होता है। न्याय के इस तर्क के उत्तर में भाट्ट मीमांसक का कहना है कि संपर्क इन्द्रिय से विशेष्य का यथा 'इस स्थल' का होता है। अतः प्रत्यक्ष से जो ज्ञात होता है वह ज्ञान विशेष्य का है, विशेषण का नहीं, क्योंकि यहाँ इन्द्रियों से विशेषण का संपर्क नहीं होता। अतः विशेषण अर्थात् अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है। वस्तुतः भाट्ट मीमांसक अभाव को 'अधिष्ठानातिरिक्तम् तत्त्व' कहते हैं। उनके अनुसार अधिष्ठान का ज्ञान तो हमें प्रत्यक्ष से होता है किन्तु 'अतिरिक्त तत्त्व' का ज्ञान अनुपलब्धि से ही होता है। अतः अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष कहना उचित नहीं हैं।

प्रभाकर मीमांसक भी नैयायिकों की ही भाँति अभाव को अधिष्ठान के संदर्भ में ही व्याख्यायित करने की चेष्टा करते हैं। किंतु नैयायिकों और प्राभाकरों के बीच प्रमुख भेद यह है कि नैयायिक अभाव को अधिष्ठान का विशेषण या गुण कहते हैं जबकि प्राभाकर अभाव को 'अधिष्ठान की रिक्तता' के द्वारा परिभाषित करते हैं। प्रभाकर मतानुसार अधिष्ठान का ज्ञान चूँकि प्रत्यक्ष द्वारा होता है और चूँकि अभाव रिक्ताधिष्ठान है अतः अभाव का ज्ञान भी प्रत्यक्ष जन्य ही है। इस प्रकार नैयायिक और प्रभाकर मीमांसक दोनों अनुपलब्धि या अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्ष द्वारा जानने का दावा करते हैं और अनुपलब्धि के पृथक् प्रमाणत्व का खंडन करते हैं लेकिन नैयायिकों के द्वारा अनुपलब्धि (अभाव) का प्रत्यक्ष में अन्तर्भावीकरण करने से उन पर कई प्रश्न चिन्ह उपस्थित हो जाते हैं अर्थात् नैयायिक एक ओर तो अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्षजन्य कहते हैं तथा दूसरी ओर प्रत्यक्ष को 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान' की संज्ञा देते हैं। इस स्थिति में प्रश्न यह है कि 'जो है' उस अर्थ या विषय का तो इन्द्रिय संपर्क संभव होगा, किन्तु जो नहीं है (अभाव) उसका इन्द्रिय से सन्निकर्ष कैसे संभव होगा? ऐसी स्थिति में नैयायिक या तो यह स्वीकार करें कि अभाव का ज्ञान किसी प्रत्यक्षेत्तर साधन से होता है अथवा प्रत्यक्ष विषयक अपनी परिभाषा को परिवर्तित करें। इस आक्षेप के उत्तर में नैयायिक यह कहते हैं कि अभाव के प्रत्यक्ष की स्थिति में इन्द्रिय से विषय का संपर्क 'असाधारण' होता है। तब, यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यह 'असाधारण संपर्क' कैसा है? न्याय इसकी कोई उचित विवेचना नहीं देता।

वस्तुतः न्याय मतानुसार अभाव एक प्रकार का सापेक्ष पदार्थ है, तथा इसका ज्ञान अधिष्ठान की विशेषता के रूप में होता है। जैसे, भूमि के प्रत्यक्ष से जिस प्रकार भूमि की अन्य विशेषताओं, यथा लंबाई, चौड़ाई आदि का ज्ञान होता है उसी प्रकार भूमि के प्रत्यक्ष से ही भूमि पर घट के 'अभाव' का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्याय मतानुसार, अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है, इसके लिए 'अनुपलब्धि' को प्रमाण स्वरूप स्वीकार करना अनावश्यक या अनुचित है।[21] नैयायिकों के इस मत के विरुद्ध भाट्ट मीमांसकों ने अनुपलब्धि को स्वतंत्र ज्ञान की कोटि में रखते हुए विविध तर्क प्रस्तुत किए गए हैं–1. प्रत्यक्ष मात्र उन्हीं वस्तुओं का संभव है जिनमें रंग, रूप, गंध आदि भौतिक गुण होते हैं। अभाव का रंग, रूप, गंध आदि नहीं होता। अतः इसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी संभव नहीं है। 2. प्रत्यक्ष मात्र उन्हीं वस्तुओं का हो सकता है जो अस्तित्ववान हों और इन्द्रिय संपर्क के योग्य हों। चूँकि 'अभाव' में वस्तु उपस्थित नहीं होती अतः इसका इन्द्रिय संपर्क भी संभव नहीं। इस प्रकार अभाव का प्रत्यक्ष संभव नहीं। 3. नैयायिकों का यह कहना उचित नहीं कि अभाव अधिष्ठान का विशेषण है। 'क' को 'ख' का विशेषण तब तक नहीं कहा जा सकता है जब तक 'क' और 'ख' में विशेष्य–विशेषण संबंध न हो। चूँकि संबंध सदैव उभयदीय ही होता है अतः अभाव और अधिष्ठान में विशेष्य–विशेषण संबंध संभव नहीं होगा क्योंकि यहाँ विशेष्य (अधिष्ठान) तो उपस्थित होता है किन्तु संबंध का दूसरा पद विशेषण या 'अभाव' अनुपस्थित होता है इस दूसरे पद के अभाव में यहाँ विशेष्य–विशेषण संबंध ही संभव नहीं होता, अतः यहाँ यह नहीं का जा सकता कि अभाव प्रत्यक्षगम्य है। स्पष्ट है कि अनुपलब्धि को हम प्रत्यक्ष के भीतर नहीं रख सकते। अर्थात् अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह नहीं पाते हैं। क्योंकि दोनों में दो तरह के काम होते हैं।

वेदांतियों तथा भाट्ट मीमांसकों का मानना है कि 'अनुपलब्धि' (Non-apprehension) को हम प्रत्यक्ष कभी नहीं कह सकते क्योंकि अनुपलब्धि में इन्द्रिय से तो काम लेते हैं, परंतु इन्द्रियों का सन्निकर्ष पदार्थ से बिल्कुल नहीं हो पाता है। जैसे–इस कमरे में आँख का संबंध या सन्निकर्ष घड़ा की अनुपस्थिति (absence) के साथ स्थापित करना। परंतु घड़े के अभाव या घड़े की अनुपस्थित (absence) के साथ आँख का संबंध तो हम कभी नहीं भी स्थापित कर सकते। 'घड़ा' के साथ आँख का सन्निकर्ष (contact) हो सकता है, परंतु 'घड़ा' नहीं है' अर्थात् 'घड़ा के अभाव' के साथ आँख का सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। इसलिए जब 'अनुपलब्धि' (Non-apprehension) में इन्द्रिय और पदार्थ का संबंध या सन्निकर्ष नहीं किया जाता है तो भला फिर अनुपलब्धि को हम प्रत्यक्ष (preception) कैसे कह सकते हैं, अतः भाट्ट मीमांसकों और वेदान्त दर्शन के विद्वानों का कहना है कि 'अनुपलब्धि' (Non-apprehension) का अस्तित्व एक प्रमाण के रूप में बिल्कुल ही अलग और स्वतंत्र है।

6. अनुपलब्धि का अनुमान में अन्तर्भाव

नैयायिक और प्रभाकर मीमांसकों की ही भाँति बौद्ध तथा वैशेषिक दार्शनिक न केवल अनुपलब्धि के पृथक् प्रमाणत्व का खंडन करते हैं, बल्कि ये संप्रदाय अभाव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के ज्ञान को अनुमान द्वारा जानने का दावा भी करते हैं और इसी कारण अनुपलब्धि का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में दिखलाते हैं। यद्यपि वैशेषिकों ने 'प्रशस्तपाद' में सातवें एवं स्वतंत्र पदार्थ के रूप में अभाव को स्वीकार किया है किन्तु ज्ञान मीमांसान्तर्गत वैशेषिक दार्शनिक अनुपलब्धि (अभाव) का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं। वैशेषिक दर्शन का अनुपलब्धि (अभाव) के संबंध में मत है कि अनुपलब्धि का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। वैशेषिकों के अनुसार जैसे उत्पन्न कार्य को देखकर कारण सामग्री का अनुमान होता है, उसी प्रकार घटादि कार्य के प्राग्भाव से उसकी कारण सामग्री के अभाव की भी अनुमान से सिद्धि हो जाती है।[22] इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में अनुपलब्धि अनुमान में अन्तर्भावित है। वैशेषिकों के समान ही बौद्ध दार्शनिक भी अभाव (अनुपलब्धि) का अर्थ येग्यानुपलब्धि लगाते हैं इसीलिए वे भी अनुपलब्धि को अनुमान में अन्तर्भावित करते हैं।

धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिक अनुपलब्धि का अन्तर्भाव अनुमान में करते हुए कहते हैं कि अभाव का ज्ञान निम्न अनुमान से हो जाता है–

1. जहाँ जो वस्तु होती है उचित परिस्थतियों में उसका प्रत्यक्ष होता है।
2. इस कमरे में घट का प्रत्यक्ष उचित परिस्थितियों में नहीं हो रहा है।
3. अतः इस कमरे में घट का अभाव है।

इस प्रकार बौद्ध विचारक धर्मकीर्ति एवं धर्मोत्तर आदि अनुपलब्धि को अनुमान में अन्तर्भावित करते हैं किन्तु वेदांती बौद्धों द्वारा अनुपलब्धि के अनुमान में किये गये अन्तर्भाव को त्रुटिपूर्ण बतलाते हैं। वेदांतियों का कहना है कि इस अनुमान में आत्माश्रय दोष है। कारण धर्मकीर्ति जब यह कहते हैं कि घट का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है तो प्रश्न यह उठता है कि यह ज्ञान कैसे होता है कि 'घट का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है' स्पष्ट है कि इसका स्पष्टीकरण बौद्धों को अनुपलब्धि के द्वारा होता है। अतः अनुपलब्धि को 'अनुमान' कहना अनुचित है। इसीलिए अनुपलब्धि को अनुमान में अन्तर्भावित करना भी अनुचित है। इस प्रकार वेदांत और भाट्ट मीमांसा के अनुसार अनुपलब्धि प्रमा का एक वैध और स्वतंत्र साधन है।

वेदांती भी अनुपलब्धि का अनुमान में किए गए अंतर्भाव का खंडन करते हुए कहते हैं कि अभाव के ज्ञान के कई साधन हो सकते हैं, जैसे 'इस समय देवदत्त वन में है' इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि 'इस समय देवदत्त घर में नहीं है'। इस प्रकार कभी–कभी एक वस्तु को अन्यत्र उपस्थित जानकर किसी अन्य स्थान विशेष में इसके अभाव का ज्ञान होता है। अभाव का यह ज्ञान अनुमानजन्य है। दूसरी ओर कुछ स्थितियों में अभाव का ज्ञान शब्दों के माध्यम से भी होता है, यथा मेरे इस कथन से कि 'इस समय मेरे सिर में दर्द नहीं है' आपको मेरे सिर में दर्द के अभाव का ज्ञान होता है। यह ज्ञान मेरे लिए भले अनुभूतिजन्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो, आपके लिए शब्दजन्य ही है। इनके अतिरिक्त कुछ स्थितियों में एक भिन्न प्रकार से भी अभाव का ज्ञान होता है, यथा इस समय इस कमरे में वृक्ष की अनुपस्थिति (अभाव) का ज्ञान। वेदांत मतानुसार यह ज्ञान न तो प्रत्यक्षजन्य है, न अनुमान अथवा शब्दज़न्य। इसे ही वेदांती 'अनुपलब्धि' प्रमाण मानते हैं।

सारांश

अन्य प्रमाणों की भाँति ही जब हम भारतीय दर्शन में अनुपलब्धि प्रमाण और उसके अन्तर्भाव पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें भारतीय ज्ञानमीमांसा में अनुपलब्धि के विषय को लेकर संपूर्ण भारतीय दार्शनिक सप्रंदाय तीन खेमों में बंटे हुए दिखलाई देते हैं। प्रथम श्रेणी में वे ज्ञानमीमांसक आते हैं जिनके अनुसार अनुपलब्धि स्वतंत्र प्रमाण है। इस कोटि में भाट्ट मीमांसक और वेदांती आते हैं। द्वितीय श्रेण में वे दार्शनिक हैं जो अभाव के ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं। ये अनुपलब्धि को ज्ञान का स्वतंत्र साधन स्वीकार नहीं करते। इस मत के समर्थकों के रूप में मुख्यतः नैयायिक तथा प्राभाकर मीमांसक आते हैं। तृतीय श्रेणी में वे ज्ञानमीमांसक आते हैं जो अभाव का ज्ञान अनुमानजन्य मानते हैं तथा अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण मानने से इनकार करते हैं। वैशेषिक तथा बौद्ध इस कोटि के प्रमुख ज्ञान मीमांसकों में से हैं।

जिस प्रकार उपमान, शब्द और अर्थापत्ति प्रमाणों के स्वरूप और उनके पृथक् प्रमाणत्व एवं अन्तर्भाव को लेकर विभिन्न भारतीय दार्शनिक संप्रदायों में आपस में मतभेद हैं उसी प्रकार हम देखते हैं कि अनुपलब्धि प्रमाण के विषय में भी भारतीय दार्शनिक संप्रदायों में गहरा तथा असमझौता पूर्ण विवाद विद्यमान है। अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में न मानने वाले दार्शनिक संप्रदायों को देखा जाए तो हम पाते हैं कि नैयायिक और प्राभाकर मीमांसक अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भावित मानते हैं जबकि बौद्ध और वैशेषिक मत में अनुपलब्धि का अन्तर्भाव अनुमान में दिखलाया जाता है। इसी प्रकार अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण की मान्यता देने वाले भाट्ट (मीमांसक) तथा वेदांतियों के मध्य अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप के संबंध में मतभेद विद्यमान हैं। इसी प्रकार अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष में अन्तर्भावित करने वाले नैयायिक और प्राभाकर मीमांसकों में से प्राभाकर मीमांसकों ने अभाव की सत्ता का पूर्णतः निषेध माने जाने के कारण अनुपलब्धि को प्रमाण रूप स्वीकार नहीं किया जबकि न्यायमत में अनुपलब्धि के पृथक् प्रमाणत्व का निषेध कर उसको प्रत्यक्ष में अन्तर्भावित किया गया है। बौद्ध और वैशेषिक मत जो अनुपलब्धि को अनुमान में अन्तर्भावित करते हैं उनमें भी अनुपलब्धि प्रमाण के संबंध में मतभेद हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संदर्भ

1. लक्षणावली, पृ–1.2
2. डॉ0 चक्रधर बिजल्वान, भारतीय न्यायशास्त्र, उ–प्र–हिन्दी संस्थान लखनऊ 1998, पृ–577
3. Jankai Ballabh bhattacharya, Indian studies: Post&Present 1965, p&10
4. वैशेषिक सूत्र, 9 |1 |6
5. वैशेषिक सूत्र, 9 |1 |6.9
6. प्रशस्तपादभाष्य, पृ–180
7. किरणावली प्र–327.सचाभावः क्वचित् प्रत्यक्षः क्वचिचानुमानिक इति लोकसिद्ध मेवेत्यर्थ।
8. न्यायवार्तिक, न्यायसूत्र 1 |1 |4
9. (क) न्याय कंदली, पृ–544
   (ख) न्याय कंदली, पृ–463
10. न्याय कंदली, पृ–544.तदभावविशिष्ट भूतलग्रहणम्
11. न्यायवार्तिक–1 |1 |4.येनेन्द्रियेण या व्यक्तिः गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तज्जातिः तदभावोअपि गृह्यते।
12. तर्कभाषा, पृ–212
13. न्यायबिन्दु
14. वही, तत्रानुपलब्धिर्यथा–न प्रदेश विशेषे कक्चिद् छट उपलब्धिलक्षण प्राप्तस्यानुपलब्धरेति।
15. शास्त्रदीपिका, (अभाव)–सर्वहिवस्तु सदसदात्मना द्विविधम्।
16. श्लोकवार्तिक
17. वेदांत परिभाषा, पृ–216
18. वेदांत परिभाषा पृ–257.ज्ञानाकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारण मनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्।
19. तर्कभाष्य, पृ–159, संपादक, बद्रीनाथ शुक्ल
20. तर्कभाष्य, अभाव प्रकरण
21. तर्कभाषा, पृ–212
22. प्रशस्तपादभाष्य (अनुपलब्धि प्रकरण)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - VIII

अप्रचलित प्रमाणों का अन्तर्भाव

भारतीय दर्शन में कुल मिलाकर पंद्रह प्रकार के स्वतंत्र प्रमाणों का अस्तित्व देखने को मिलता है। इन पंद्रह प्रकार के स्वतंत्र प्रमाणों में से कोई दार्शनिक या दार्शनिक संप्रदाय केवल एक प्रमाण को अपनी ज्ञान मीमांसा में स्वीकार करता है तो कोई दो प्रमाणों को स्वीकार करता है। कोई दार्शनिक तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है, कोई चार प्रमाणों को, कोई पांच प्रमाणों को और कोई छह प्रमाणों को अपनी ज्ञान मीमांसा में स्वीकृति प्रदान करता है। इतना ही नहीं, कुछ ऐंसे भी दार्शनिक हैं जो कि एक साथ दस प्रमाणों तक को अपनी ज्ञान मीमांसा में वैध ज्ञान के स्वतंत्र साधन अर्थात् प्रमाण के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। बौद्ध तथा वैशेषिक दो प्रमाणों–प्रत्यक्ष और अनुमान (परोक्ष) को स्वीकार करता है। जैन दर्शन भी सभी प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष कोटि में ही समाहित कर देता है। सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और अप्तवचन नामक तीन प्रमाण स्वीकार किए गए हैं। न्याय दर्शन प्रमाण चतुष्ट्यवादी है–प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान। प्राभाकर मीमांसक पांच प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति को मानते हैं। वेदांती और भाट्ट मीमांसक उपरोक्त पांच प्रमाणों के साथ ही अनुपलब्धि को प्रमाण के रूप में जोड़कर प्रमाणों की संख्या छह कर देते हैं।

आयुर्वेद और पौराणिक दर्शन में संभव और ऐतिहय नामक दो कम प्रचलित या यह कहें कि अप्रचलित प्रमाणों के संदर्भ प्राप्त होते हैं। इन आठ प्रमाणों के साथ ही तांत्रिक चेष्ट और परिशेष नामक दो प्रमाणों की चर्चा करके प्रमाणों की संख्या दस कर देते हैं। इसी प्रकार पार्थसारथि मिश्र 'न्यायरत्नाकर' में तथा न्याय सिद्धिकार 'प्रकरणपंचिका' की व्याख्या में लोक प्रमाण या लोक प्रसिद्धि तथा प्रातिभ ज्ञान या आर्ष प्रमाण की चर्चा करके प्रमाणों की संख्या बारह कर देते हैं। इतना ही नहीं, परवर्ती जैन दार्शनिकों ने जिनमें अकलंक और वादिदेव सूरि आदि प्रमुख हैं, ने इस बात को बड़े ही आग्रहपूर्वक प्रतिस्थापित किया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के साथ ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को भी जोड़ दिया जाए। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिहय, चेष्टा, परिशेष, लोक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रसिद्धि (लोक प्रमाण), आर्ष (प्रातिभ–ज्ञान), स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क नामक पंद्रह प्रमाणों का अस्तित्व भारतीय दर्शन में स्वतंत्र प्रमाणों के रूप में देखने को मिलता है।

लेकिन इन उपरोक्त पंद्रह प्रमाणों में से केवल छह प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ही ऐसे प्रमाण हैं, जो कि भारतीय दर्शन और भारतीय दार्शनिकों के मध्य सर्वाधिक चर्चित, विवादित एवं प्रचलित प्रमाण के रूप में देखे–सुने जाते हैं। अतः इन छह प्रमाणों को प्रचलित प्रमाण या प्रसिद्ध प्रमाण कहते हैं और शेष बचे हुए नौ प्रमाणों–संभव, ऐतिहय, चेष्टा, परिशेष, लोक प्रसिद्धि (लोक प्रमाण), आर्ष (प्रातिभ–ज्ञान), स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को भारतीय दर्शन में अप्रचलित प्रमाणों के नाम से भी अभिहित किया जाता है। भारतीय दर्शन में इन नौ प्रमाणों को अप्रचलित प्रमाण या अप्रसिद्ध प्रमाण के रूप में जाने जाने के कारण दो कारण हैं–1. भारतीय दाशनिकों द्वारा इनकी अवहेलना करना और 2. भारतीय दार्शनिकों द्वारा इनको प्रमाण के रूप में बहुमत न मिलना। हालांकि इन अप्रचलित प्रमाणों में से स्मृति एक ऐसा प्रमाण है, जिस पर भारतीय दर्शन में काफी विचार मंथन प्राप्त होता है, लेकिन स्मृति को भी प्रमाण के रूप में बहुमत न मिलने के कारण उसे भी भारतीय दर्शन में अप्रचलित प्रमाण की श्रेणी में ही रखा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन में विद्यमान समस्त प्रमाणों को भारतीय दार्शनिकों ने दो श्रेणी में विभाजित किया है–1. प्रचलित प्रमाण और 2. अप्रचलित प्रमाण। प्रचलित प्रमाणों के स्वरूप एवं उनके अंतर्भाव की चर्चा हमने पिछले अध्यायों में विस्तारपूर्वक की है। इस अध्याय में हम प्रचलित प्रमाणों या प्रसिद्ध प्रमाणों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के बचे हुए अन्य अप्रचलित या अप्रसिद्ध प्रमाणों के प्रमाणान्तर्भाव को निम्नांकित बिंदुओं के माध्यम से जानने का प्रयास करेंगे–

ऐतिह्य प्रमाण का अन्तर्भाव

पुराणों में ऐतिह्य को भी ज्ञान का स्वतंत्र प्रामण स्वीकार किया गया। ऐतिह्य अथवा लोक परंपरा से प्राप्त ज्ञान भी एक प्रकार का उपेदश जनित ज्ञान ही है। किन्तु लोक परंपरा से प्राप्त ज्ञान अथवा ऐतिह्य आप्त वचन नहीं होता। (एव हि ऐतिहस्य न प्रमान्तरता भविष्यति उपदेशरूपत्वा विशेषात्)[1] यह ज्ञान आप्त वचन से भिन्न अदृष्ट परक प्रमाण है। प्रेत अथवा पितर भीत में बिना छिद्र बनाये हाथ बाहर निकालते हैं। अथवा लोक परंपरा में पुण्य–पाप का फल मिलता है। पुण्य करने से स्वर्ग मिलता है तथा पाप करने से नरक। पुराणों में वर्णित इस प्रकार के ज्ञान एतिह्य प्रमाण के उदाहरण हैं। ऐतिह्य से तात्पर्य जनश्रुति या परंपरा से है। वत्स्यायन भाष्य में ऐतिह्य को परिभाषित करते हुए नैयायिकों ने लिखा है कि इति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो चुः इत्यनिर्दिष्ट प्रवक्तक प्रवादपारम्पर्यम् ऐतिह्यंम।[2] अर्थात् 'ऐसा किन्ही ने कहा था।' यों वक्ता का नाम निर्देश न होते हुए जो प्रवाद (जनश्रुति) परंपरा चली आती है, उसे ऐतिह्य कहते हैं।

ऐतिह्य की चर्चा न्याय दर्शन में प्राप्त होती है। न्याय दर्शन में हालांकि ऐतिह्य के प्रामाण्य पर प्रश्नचिह्न नहीं उठाया गया है, लेकिन वे उसकी गणना चार प्रमाणों के अंतर्गत नहीं करते हैं। जबकि गौतम का कहना है कि ऐतिह्य प्रमाण वस्तुतः शब्द में अंतर्भूत हो जाता है। अतः उसकी पृथक प्रमाण में गणना करने की जरूरत नहीं है। कुमारिल भट्ट भी ऐसा ही कथन करते हैं। हालांकि वे स्पष्ट रूप से ऐतिह्य के शब्द में अंतर्भाव की बात नहीं करते, लेकिन पार्थसारथि मिश्र अवश्य वहां शब्द में ऐतिह्य का समावेश करते हैं, वह भी खासे संकोच के बाद कि पुरुष वचन की परंपरा, जो कि निर्णयजनक नहीं है, प्रमाण नहीं है और यदि वह है तो शब्द के अंतर्गत ही उसका समावेश होना चाहिए।

2. संभव प्रमाण का अंतर्भाव

पुराणों में संभव को ज्ञान का स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार किया गया है। न्यायसूत्र में महर्षि गौतम इसे निम्न रूपों में बताते है यथा संभवोनामाविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ता ग्रहणादन्तस्य सत्ता ग्रहणम्—न्यायसूत्र। अर्थात् संभव प्रमाण स्वतंत्र प्रमाण माना जाना चाहिए जैसे कुवाँ खोदने के ख्याल से इधर का स्थान उधर से अच्छा है। अतः यहाँ कुवाँ खोदने पर पानी मिलेगा। इस तरह के ज्ञान को संभव प्रमाण माना गया। वात्स्यायन ने भी संभव प्रमाण के संदर्भ में बताया कि पसेरी के ज्ञान में उसके ढ़ाई तौल (2.5) का तथा ढ़ाई तौल के उसके सवा सेर का ज्ञान संभव प्रमाण है। अर्थात् जिसे पसेरी का ज्ञान है। संभव ज्ञान के रूप में उसे 2.5 तौल का भी ज्ञान है।

प्रमाण परिगणना क्रम में 'संभव' प्रामण की चर्चा न्याय, मीमांसादि के ग्रंथों में प्राप्त होती है। वात्स्यायन कहते हैं कि 'संभव' वह है कि जहाँ किसी अविनाभावी अर्थ के होने के ज्ञान से अन्य के होने का ज्ञान हो जाता है, जैसे द्रोण (बड़ा परिणाम) के होने के ज्ञान से आढक (द्रोणसे छोटा परिणाम) के होने का ज्ञान और आढक के होने से प्रस्थ (आढक से छोटा परिणाम) के होने का ज्ञान। उद्योतकर कहते हैं कि किसी अविनाभावी अर्थ के ज्ञान से अन्य के होने का ज्ञान संभव प्रमाण है यथा द्रोण परिणाम के ग्रहण से आढक के होने का ज्ञांन।[3] वात्स्यायन संभव का अनुमान में अंतर्भाव करते हुए कहते हैं कि अविनाभावसंबंध से संबंध रखने वाले समुदाय और समुदायी में से समुदाय के द्वारा समुदायी का ग्रहण संभव है, और वह अनुमान ही है।[4] इसी तरह कुमारिल कहते हैं कि सहस्त्रादि बड़ी संख्याओं के द्वारा जो शतादि छोटी संख्याओं का बोध होता है, वह ज्ञान चूँकि व्याप्तिमूलक है अतः अनुमान से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भिन्न नहीं है।[5] देखा जाए तो गणितीय ज्ञान की दृष्टि से यह प्रमाण बहुत महत्वपूर्ण है। जिस पात्र में एक मन धान्य आता है उसमें आधा मन धान्य का रखना या एक हजार में सौ की संभावना निहित होना यह संभव प्रमाण है।

3. चेष्टा प्रमाण का अन्तर्भाव

हाथ को अपनी तरफ मोड़ने की क्रिया से अपनी तरफ बुलाने का जो बोध होता है और बाहर की तरफ फैलाने की क्रिया से बाहर जाने की आज्ञा का जो बोध होता है अथवा ओंठों पर उंगुली रखने से चुप रहने का जो संकेत मिलाता है और दो संख्या बताने के लिए दो उंगली का जो संकेत किया जाता है उसे 'चेष्टा' प्रमाण कहा जाता है। न्याय–वैशेषिक आचार्यों के अनुसार इसे पृथक् प्रमाण मानना उचित नहीं है क्योंकि इनसे उपयुक्त शब्द का स्मरण मात्र होता है। तांत्रिकों ने चेष्टा को प्रमाणान्तर माना है। चेष्टा को परिभाषित करते हुए कहा कि वास्तव में यह लिपि की तरह ही अभिप्रेत शब्द का स्मारक है।[6] प्रशस्तपादभाष्य में इसके स्वतंत्र प्रमाणत्व का खंडन करते हुए कहा गया है कि चूँकि चेष्टा के साथ संकेतित अर्थ के ज्ञान से युक्त पुरुष को ही उस चेष्टा से अर्थ का बोध होता है, अतः चेष्टा अनुमान ही है, कोई अतिरिक्त प्रामण नहीं है।

4. परिशेष प्रमाण का अन्तर्भाव

चेष्टा एवं संभव प्रमाण की ही तरह 'परिशेष' प्रमाण भी महत्वपूर्ण है। एक मन में आधे मन की व्याप्ति होने से जिस तरह 'संभव' का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है उसी तरह नैयायिकों का कहना है कि 'परिशेष' का अन्तर्भाव परिशेषानुमान में हो जाता है। प्रसक्त के प्रतिषेध से परिशिस्यमाण का जो ज्ञान होता है उसे परिशेष प्रमाण कहते हैं। यह विधिमुख और निषेधमुख से द्विवधि होता है। विधिमुख परिशेष का उदाहरण है–चैत्र और मैत्र में, यह चैत्र है इसके आधार पर दूसरे में मैत्र होने का ज्ञान। इसी प्रकार यह चैत्र नहीं है यह कहने पर उसके मैत्र होने का जो ज्ञान होता है उसे निषेधमुख परिषेश कहते हैं।[7]

5. आर्ष (प्रातिभज्ञान) प्रमाण का अन्तर्भाव

'प्रातिभज्ञान', 'प्रतिभा', 'आर्षज्ञान' या प्रत्यक्ष के भेद के रूप में परिगणित 'योगज–प्रत्यक्ष' प्रामाणिक ज्ञान के उस प्रभेद की ओर इशारा करता है जिसे इन्ट्यूशन कहा जाता है। भले ही भारतीय दार्शनिक इसके स्वतंत्र प्रामाण्य की चर्चा न करें पर इसे वे प्रामाणिक ज्ञान तो मानते ही हैं। योगिप्रत्यक्ष को लेकर बौद्धों व मीमांसकों में जर्बदस्त विवाद है। दिग्नांग, धर्मकीर्ति, प्रभृति बौद्ध नैयायिक योगिप्रत्यक्ष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को प्रत्यक्ष का एक प्रकार भेद सिद्ध करने के लिए अत्याधिक आतुर हैं। योगि प्रत्यक्ष को प्रामाणिक ज्ञान का एक उपभेद स्वीकार करने से जहाँ बुद्ध के सर्वज्ञत्व की व्याख्या हो जाती है वहीं 'स्वानुभूति' पर आधारित धर्माधर्म की परम्परा को दार्शनिक आधार मिल जाता है। अब जिन कारणों से बौद्ध योगि–प्रत्यक्ष को प्रमाण कोटि में रखना चाहेगें उन्ही कारणों से मीमांसक इसे कथमपि स्वीकार नहीं करना चाहेगें। धर्माधर्म के स्त्रोत के रूप में एक मात्र श्रुति ही मीमांसकों के मत में प्रमाण है और किसी योगी अथवा सर्वज्ञ को इसके लिए प्रमाण नहीं माना जा सका है। फलतः मीमांसक 'सर्वज्ञत्व' और 'योगिज्ञान' के प्रत्यय को सिरे से खारिज कर देते हैं। विद्या का चतुर्थ भेद मानते हुए प्रशस्तपाद कहते हैं कि आगम का निर्माण करने वाले महर्षियों को उनके विशेष प्रकार के पुण्य से भूत, भविष्य, वर्तमान, अतीन्द्रिय, धर्माधर्मादि विषयक जो प्रातिभ ज्ञान होता है, उसे आर्ष कहते हैं।[8] श्रीधर इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इन्द्रिय एवं हेतु प्रभृति यथार्थ ज्ञान के साधनों के न रहने पर भी जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रतिभा कहते हैं तथा इस प्रतिभा को ही प्रातिभज्ञान या आर्षज्ञान कहते हैं। इस प्रातिभज्ञान द्वारा अतीत, अनागत, अतीन्द्रिय वस्तुओं का धर्म–अधर्म आदि का ज्ञान होता है। ज्ञान, तप और समाधि से ऐसे प्रकृष्ट धर्म का मनुष्य में उदय होता है जिससे प्रतिभा उत्पन्न होती है।

हाँलाकि यह प्रातिभज्ञान अधिकतर ऋषियों को ही होता है पर साधारण मनुष्यों को भी कदाचित् ऐसा ज्ञान हो जाता है। जैसे कि कोई छोटी बच्ची कहती है कि 'कल मेरा भाई आयेगा' और सचमुच दूसरे दिन उसका भाई आ जाता है। अब इस ज्ञान को प्रामाणिक माना जाना चाहिए।[9] न केवल श्रीधर अपितु जयंत भट्ट, वल्लभ प्रभृति दूसरे दार्शनिक भी उपर्युक्त तरह के प्रातिभ ज्ञान को प्रामाणिक मानते हैं, चाहे यह लौकिक हो या आर्ष। इस प्रातिभ या आर्षज्ञान की विशेषता उसकी अपरोक्षता है। अपरोक्ष होने का यह अर्थ नहीं है कि वह प्रत्यक्ष है। जैसा कि वल्लभ ने कहा है कि चूँकि आर्षज्ञान अनिद्रियज है अतः अनिन्द्रियज होने से इसे प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता है। अस्तु, प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न अपरोक्ष ज्ञान रूप आर्षज्ञान को ज्ञान की स्वतंत्र कोटि के रूप में स्वीकार करना ही उचित होगा। इसलिए प्रशस्तपाद प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति के अतिरिक्त आर्षज्ञान को विद्या के चतुर्थ भेद के रूप में स्वीकार करते हैं।[10] दूसरी ओर कुमारिल के अनुसार प्रतिभा चाहे लौकिक हो या योगियों की, वह मिथ्य ही है, प्रामाणिक नहीं।

6. प्रत्यभिज्ञा प्रमाण का अन्तर्भाव

पूर्वानुभूति के आधार पर पूर्वकाल में जानी गई वस्तु का वर्तमान में प्रत्यक्ष होने पर उसे पहचान लिया जाना प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। यथा, देवदत्त नामक व्यक्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यदि पूर्वकाल में वाराणसी में मिला हो और पुनः यदि वही व्यक्ति वर्तमान में पटना में मिले तो पटना में इसे पहचान लेना कि 'यह वही देवदत्त है' प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। वेदांत मत इस प्रकार के ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष की कोटि मे रखता है क्योंकि इसमें विशेष्य–विशेषण ज्ञान होता है। किंतु न्याय मतानुसर प्रत्यभिज्ञा और सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भेद है। सविकल्पक अथवा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भूतकाल की कोई भूमिका नहीं होती जबकि प्रत्यभिज्ञा में भूतकाल की भूमिका होती है। भूतकाल और वर्तमान की संवेदना मिलाकर ही प्रत्यभिज्ञा का जन्म होता है। पुनः प्रत्यभिज्ञा स्मृति से भी भिन्न है। स्मृति में बोध की वस्तु ज्ञाता के सम्मुख साक्षात उपस्थित नहीं होती, जैसे मुझे कल ग्रहण किये गये भोजन का स्मरण हो रहा है। यहाँ वर्तमान समय में भोजन मेरे सम्मुख उपस्थित नहीं है। दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञा में स्मृति की भूमिका तो निश्चय ही होती है किन्तु यहाँ विषय ज्ञाता के सम्मुख साक्षात उपस्थित होता है, जैसे वाराणसी में देखे गये देवदत्त को पुनः वर्तमान समय में अपने सामने उपस्थित पाकर उत्पन्न हुआ यह बोध "यह देवदत्त है।"

7. लोक प्रसिद्धि प्रमाण का अन्तर्भाव

पार्थसारथि मिश्र द्वारा न्याय रत्नाकर में की गई चर्चा से लोकप्रसिद्धि (लोक प्रमाण) नामक स्वतंत्र प्रमाण के संदर्भ संकेत प्राप्त होते हैं। लोक में प्रसिद्ध किसी व्यक्ति की लोक प्रसिद्धि को आधार मानकर उससे प्राप्त धर्म–अधर्म आदि के ज्ञान को प्रामाणिक मान लिया जाता है तो इस प्रकार के प्रमाण को लोक प्रसिद्धि या लोक प्रमाण कहा जाता है। उदाहरण के लिए–सम्राट अशोक की प्रसिद्धि या सम्राट अशोक के समय पर महामानव गौतम बुद्ध की प्रसिद्धि विश्व विख्यात थी। वर्तमान समय में राम, कृष्ण से भी अधिक 150 देशों में तथागत बुद्ध की प्रसिद्धि फैली हुई है। न्याय दर्शन के दार्शनिक पार्थ सारथि मिश्र लोकप्रसिद्धि प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते हैं। लोक प्रसिद्धि प्रमाण की स्वतंत्र प्रामाणिकता का खंडन करते हुए पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान के अतिरिक्त लोकप्रसिद्धि नाम की कोई वस्तु ही नहीं होती है।

9. तर्क प्रमाण का अन्तर्भाव

साधारणतः प्रतिवादी के खंडन के लिए जो युक्ति दी जाती है, उसे तर्क कहते हैं दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रतिवादी के कथन को खंडित करके अपने पक्ष का परोक्ष रूप से समर्थन करने के लिए वादी द्वारा प्रयुक्त काल्पनिक युक्ति को तर्क कहते हैं। पाश्चात्य तर्क शास्त्र में इसे Indirect Proof या Hypothetical Argument कहा जाता है। अर्थात् श्री केशव मिश्र के अनुसार तर्क अनिष्ट प्रसंग

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। तर्क के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए केशव मिश्र ने लिखा है कि जब दो पदार्थों में एक के रहने पर दूसरे का होना निश्चित होता है तो एक के होने की ऊहा (कल्पना) करते ही दूसरे की सत्ता न चाहते हुए भी माननी पड़ती है। अनिष्ट (जो वांछित नही था) की इस प्रकार की प्राप्ति को ही तर्क कहते हैं। उदाहरणतया जब हम कहते हैं कि 'यदि यहाँ अग्नि का अभाव होता तो धुँए का भी अभाव रहता' तो यहाँ अग्नि का सद्भाव प्रतिपादित करने के लिए अधूमवत्व (जो कि अनिष्ट था) की आपत्ति की जा रही है।

तर्क को जैन दर्शन में भी प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन नैयायिकों की दृष्टि में तर्क अप्रमाण है। महर्षि गौतम के अनुसार किसी व्यक्ति को यदि किसी विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं है, और वह उस विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और उस विषय की उपपत्ति के दो या अधिक पक्षों में से जिस ओर उपपत्ति अधिक अनुरूप दिखाई दे उसी का समर्थन करता है तो इस प्रक्रिया को तर्क कहते हैं। महर्षि वात्स्यायन का मत है कि तर्क प्रमाण नहीं है। परंतु प्रमाणों का अनुग्राहक होने से तर्क तत्त्वज्ञान में सहायक है।[11] उदाहरणार्थ 'पर्वत अग्निमान् है या अग्निहीन है' इस प्रकार संदेह होने पर कोई व्यक्ति यह मान सकता है कि 'पर्वत अग्निहीन है'। इस संदेह के निवारण के लिए इस प्रकार तर्क किया जा सकता है–यदि पर्वत अग्निहीन होता तो धूमहीन भी होता क्योंकि जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम भी नहीं। अग्निहीन होने से धूमहीन होने कीं इस आपत्ति को तर्क कहा जाता है। इस तर्क से अग्नि के अनुमान में सहायता मिलती है। अतः तर्क सहायक है। इस प्रकार सहायक होने से इसे प्रमाण का अनुग्राहक भी कहते हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन में तर्क संशय से आगे की कोटि का प्रमानुग्राहक तत्व है। अतः तर्क प्रमाण न सही लेकिन प्रमा की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण सोपान तो है ही।

9. स्मृति प्रमाण का अंतर्भाव

ज्ञात विषयं ज्ञानं स्मृतिः अर्थात् संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है। जैन दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन में स्मृति को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है, लेकिन, मीमांसक, बौद्ध तथा न्याय स्मृति के प्रमात्व को स्वीकार नहीं करते। अन्नभट्ट के अनुसार संस्कार मात्र से उत्पन्न अर्थात पहले देखी गई या अनुभूत वस्तु की याद करने से जो बोध होता है उसे स्मृति कहते हैं।[12] केशव, मिश्र के अनुसार पूर्वानुभव से जिस वस्तु का संस्कार आत्मा में सुप्तवत् पड़ा रहता है, उस वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु का दर्शन होने पर (यानी सदृशदर्शन सहकृत भावना से) स्मृति का उदय होता है।[13]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मीमांसकों और वेदांतियों के विचार में भी स्मृति ज्ञान पहले से ही अनुभूत का अनुभव है इसलिए इनके मत में स्मृति के अप्रमात्व का कारण अनधिगतार्थ– गन्तृत्व का अभाव है जयंत भट्ट भी स्मृति को प्रमाण नहीं मानते किन्तु उनका स्मृति को प्रमाण न मानने का कारण मीमांसकों की भाँति यह नहीं है कि स्मृति में किसी नयी वस्तु का अनुभव नहीं होता बल्कि वे इसलिए अप्रमाण मानते हैं क्योंकि स्मृति के द्वारा हम जिस वस्तु का अनुभव करते हैं वह हमारे समक्ष उपस्थित नहीं होती। अर्थात् स्मृति में पदार्थ का ज्ञान पदार्थ के द्वारा नहीं होता इसलिए अन्नभट्ट भी स्मृति को अप्रमाण मानते हैं। इस प्रकार न्यायदर्शन, मीमांसा दर्शन और बौद्ध नैयायिक स्मृति को अप्रमा मानते हैं। किन्तु जैन दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन स्मृति को प्रमा रूप मानते हैं। इन दर्शनों के अनुसार स्मृति केवल पिछले अनुभवों के संस्कारों की फिर से केवल अभिव्यक्ति मात्र नहीं है।

वैशेषिक दर्शन भी स्मृति को प्रमा रूप मानता है। वैशेषिक दर्शन में प्रामाणिक ज्ञान के चार प्रकार स्वीकार किए गए हैं, जो ये हैं–प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति तथा अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान (आर्षज्ञान)। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में स्मृति को स्वतंत्र स्थान दिया गया है।[14] स्मृति को इसलिए अप्रमा नहीं कह सकते हैं कि वह भूत काल का विषय प्रस्तुत करती है। यह उतनी ही वस्तुनिष्ठ है जितनी कि वे वस्तुएँ वस्तुनिष्ठ हैं जो वर्तमान में पायी जाती हैं। जब अनुमान ज्ञान होता है तो स्मृति उसमें सहायक होती है। अनुमान के लिए स्मृति आवश्यक है। स्मृति जन्य ज्ञान इतना उपयोगी है कि अन्य ज्ञान के साधनों में इसका उपयोग जरूरी माना गया है। स्मृति के प्रमात्व की अवहेलना नहीं कर सकते। भूतकाल के ज्ञान तथा अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान एवं उपमान प्रमाण में भी स्मृति जन्य ज्ञान की उपयोगिता है। स्मृति प्रमात्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि स्मृति का विषय वास्तव में वस्तुस्थिति न होकर हमारा पूर्वज्ञान ही है, वही उसका प्रदत्त है तथा उसी से अनुरूपता अथवा अननुरूपता पर स्मृति का प्रमात्व अथवा अप्रमात्व निर्भर करता है। हमारे पूर्व ज्ञान के बारे में स्मृति को प्रमाण मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। स्मृति भी यथार्थ अथवा अयर्थाथ हो सकती है, अतः प्रमा तथा अप्रमा के भेद को स्मृति के संदर्भ में करके स्मृति को प्रमा के अंतर्गत ही माना जाना चाहिए। अद्वैतवेदांत दर्शन के दार्शनिक धर्मराजा इस पक्ष में हैं कि स्मृति को यदि प्रमा रूप मान लें तो कोई हर्ज नहीं है क्योंकि स्मृति में प्रमाण के अन्य लक्षण मौजूद होते हैं।

सारांश

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन में प्रचलित प्रमाणों के अतिरिक्त नौ अप्रचलित या अप्रसिद्ध प्रमाणों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। लेकिन भारतीय दर्शन में जिस प्रकार से प्रचलित छह प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप एवं उनकी स्वतंत्र प्रामाणिकता तथा उनके अंतर्भाव को लेकर दार्शनिकों एवं दार्शनिक संप्रदायों के बीच गंभीर एवं गहरे मतभेद देखने को मिलते हैं, ठीक उसी प्रकार से अप्रचलित या अप्रसिद्ध प्रमाणों–एतिह्य, संभव, चेष्टा, परिशेष, आर्ष, प्रत्यभिज्ञा, लोकप्रसिद्धि, तर्क और स्मृति प्रमाण के स्वरूप एवं उनकी स्वतंत्र प्रामाणिकता तथा उनके अंतर्भाव को लेकर भी गहरे एवं गंभीर मतभेद पाए जाते हैं।

संदर्भ

1. न्याय मंजरी
2. वात्स्यायन भाष्य।
3. न्याय सूत्र 2/2/1 पर वात्स्यायन कृत भाष्य और उद्योतकर कृत वार्तिक।
4. अविनाभातृत्तया च संबद्धयोः समुदाय समुदाभिनोः
   समुदाये तरस्य ग्रहणं संभवः तदप्यनुमानभेव। –वात्स्यायन न्यायभाष्य 2/2/2
5. कुमारिल भट्ट, श्लोक वार्तिक, अभाव प्रामाण्यवाद, 58
6. न्याय कोश, भीमाचार्य झलकीकर, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1996, पृ. 281
7. वही, पृ. 484
8. प्रश्स्तपाद भाष्य, पृ. 627
9. न्याय कंदली, श्री धर, संपूर्णानंद संस्कृत वि.वि. वाराणसी, 1997, पृ. 628
10. प्रशस्तपाद भाष्य, पृ. 441
11. तर्को न प्रमाण संग्रहीता न प्रमाणान्तरं प्रमाणानां मनुग्राह्कर तत्व ज्ञानाय कल्पते, न्याय भाष्य, 1/1/1
12. संस्कार मात्र जन्यं स्मृति :– तर्कसंग्रह, अन्न भट्ट।
13. तर्कभाष्य।
14. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन, भाग–2, पृ. 157

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

UNIT - IX

प्रमाणान्तर्भाव के प्रेरक

प्रमाणान्तर्भाव की समस्या भारतीय प्रमाण मीमांसा का एक महत्वपूर्ण प्रकरण है, जो प्रमाणों की न्यूनतम संख्या के निर्धारण से संबंधित है। प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय, विनियोग और फल की व्याख्या करना प्रमाण मीमांसकों का प्रमुख कार्य रहा है। प्रमाणान्तर्भाव की समस्या का संबंध मूलत: प्रमाणों के भेद (प्रकार) या उनकी संख्या से है। भारतीय प्रमाण मीमांसा में चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है। वैशेषिक दर्शन और बौद्ध दर्शन अपने–अपने तरीके से प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक दो ही प्रमाण मानते हैं। जैन दर्शन भी सभी प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष की कोटि में ही समाहित कर देता है। सांख्य व योग दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वचन नामक तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। न्याय दर्शन प्रमाण चतुष्टयवादी है–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा में नैयायिकों के प्रमाण चतुष्टय के अतिरिक्त अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि नामक दो स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। आयुर्वेद और पौराणिक दर्शन में संभव और ऐतिह्य नामक दो अप्रचलित प्रमाणों के संदर्भ प्राप्त होते हैं।[1]

तांत्रिक दस प्रमाण मानते हैं जिनमें उपर्युक्त आठ प्रमाणों के साथ चेष्टा एवं परिशेष भी जुड़ जाता है। पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नाकर में तथा न्यायसिद्धिकार ने प्रकरणपंचिका की व्याख्या में दस प्रमाणों की परीक्षा की है। दस प्रमाणों में ये दार्शनिक प्रसिद्ध आठ प्रमाणों[2] के अतिरिक्त नवें को लोकप्रमाण या लोकप्रसिद्धि तथा दसवें को आर्ष या प्रातिभ ज्ञान बताते हैं। परवर्ती जैन दार्शनिकों ने जिनमें अकलंक और वादिदेव सूरि आदि प्रमुख हैं ने इस बात को बड़े ही आग्रहपूर्वक प्रतिस्थापित किया कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम के साथ स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क को भी प्रमाण मानना चाहिए। अतः स्मृति प्रत्यभिज्ञा और तर्क को भी जोड़ दिया जाए तो कुल पन्द्रह प्रमाणों की चर्चा भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने की है।

प्रमाणों की संख्या को लेकर भारतीय दर्शनों का अपसी विवाद जितना गहरा है उतना ही असझौता पूर्ण भी रहा है। जो दर्शन जितने और जिन–जिन प्रमाणों को अपनी ज्ञान मीमांसा में या यों कहा जाये कि अपनी प्रमाण मीमांसा में स्वीकार करता है वह दार्शनिक संप्रदाय केवल उतने और उन–उन प्रमाणों को ही स्वतंत्र प्रमाणों के रूप में मान्यता प्रदान करने का दावा करता है। यही नहीं कोई भी दर्शन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने प्रमाण मीमांसीय चिंतन में जितने प्रकार के और जिन–जिन प्रमाणों को स्वीकार करने का दावा करता है उसके या उनके द्वारा वह दर्शन मानवीय ज्ञान के सपूंर्ण क्षेत्र को सम्मिलित और व्याख्यायित करने का भी दावा करता है एवं कोई भी दर्शन स्वयं के द्वारा स्वीकृत प्रमाणों के अतिरिक्त किसी भी प्रमाण को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकृति नहीं देता है।

किसी भी दर्शन विशेष द्वारा किसी भी या किन्ही प्रमाणों या प्रमाण विशेष को ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किए जाने के पीछे तर्क यह होता है कि उसके द्वारा स्वीकृत प्रमाण या प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु का और वस्तु स्थिति का जिस रूप में ज्ञान होता है, वह किसी दूसरे प्रमाण या प्रमाणों के द्वारा उस रूप में नहीं जाना जा सकता। उदाहरणार्थ, चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। एकमात्र प्रत्यक्ष के माध्यम से ही चार्वाक मानवीय ज्ञान के संपूर्ण क्षेत्र को सम्मिलित और व्याख्यायित करता है। उदाहरणार्थ, चार्वाक दर्शन "प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्" की उक्ति को प्रस्तुत करता है, अनुमान, उपमान, शब्दादि परोक्ष ज्ञान चार्वाक दर्शन की दृष्टि में प्रामाणिक नहीं हैं इसलिए वह इनका खंडन करता है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक भी प्रत्यक्ष और परोक्ष (अनुमान) नामक दो प्रमाणों के द्वारा ही संपूर्ण मानवीय ज्ञान को व्याख्यायित करने का दावा करते हैं और उनका आग्रह है कि प्रामाणिक ज्ञान के केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रकार हो सकते हैं। शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि जैसे प्रमाण बौद्धों की दृष्टि में प्रमाण ही नहीं हैं और कदाचित् इनमें कुछ प्रमाणांश हो भी तो वह बौद्धों के अनुसार अनुमान में ही समाविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार वे दार्शनिक भी हैं जो स्वयं तीन, चार, पाँच छह, आठ या दस प्रमाणों को मानते हैं पर यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में संभव हो सकने वाले विभिन्न प्रमाणों को इनमें अंतर्भूत मानते हैं। वस्तुतः सभी संप्रदाय अपने मत में स्वीकृत प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव स्वयं द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में दिखाकर स्वमत को पुष्ट करते हैं। ऐसी स्थिति में भारतीय दर्शनों के प्रमाण–मीमांसीय चिंतन में प्रमाणान्तर्भाव की समस्या आवश्यक रूप से उपस्थापित होती है।

इस स्थिति में भारतीय दर्शन के वैसे संप्रदाय जिन्होनें अपनी प्रमाण–मीमांसा को विकसित करने का सौउद्देश्य प्रयास किया है उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि स्वयं के द्वारा स्वीकार किए गये प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के प्रमाणों का खंडन करें अथवा स्वयं के द्वारा स्वीकृत प्रमाणों के अंतर्गत उनका अन्तर्भाव दिखायें। वस्तुतः किसी प्रमाण के स्वतंत्र प्रामाण्य का खण्डन करना और उसका किसी दूसरे प्रमाण में अन्तर्भाव दिखलाना एक ही समस्या के दो पहलू हैं। प्रमाणान्तर्भाव करने के पीछे दार्शनिकों का प्रमाणमीमांसीय तर्क यह होता है कि ऐसा करने से प्रमाण मीमांसा के अतार्किक विस्तार को निरस्त करते हुए सुदृढ़ प्रमाणमीमांसीय ढाँचे को प्रस्तावित किया जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस स्थिति में प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण को संदर्भ बनाकर जब हम भारतीय दर्शन पर दृष्टि डालते हैं तो हमें भारतीय दर्शन के सभी संप्रदाय प्रमाणान्तर्भाव रूपी जहाज पर बैठे हुए दिखलाई देते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन का प्रत्येक दार्शनिक और दार्शनिक संप्रदाय प्रमाणान्तर्भाव के रोग से ग्रसित दिखलाई पड़ता है। भारतीय दर्शन में पाए जाने वाले प्रमाणों के अंतर्भाव (प्रमाणान्तर्भाव) रूपी इस रोग का कारण खोजने पर ज्ञात होता है कि भारतीय दर्शनों और दार्शनिकों की तत्वमीमांसीय मान्यताएं ही वह मूल कारण है, जो कि उन्हें स्वसंप्रदाय स्वीकृत प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अंतर्भाव करके प्रमाणान्तर्भाव रूपी रोग से ग्रसित कर प्रमाणान्तर्भावाद के जहाज पर बैठने को मजबूर करती हैं। लेकिन भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाववाद के मूल में पाया जाने वाला यह (तत्व मीमांसयी पूर्वाग्रह रूपी रोग) कारण ऊपर से स्पष्ट तौर पर दिखलाई नहीं पड़ता है। इसी कारण भारतीय दर्शन में विभिन्न संप्रदायों के मध्य प्रमाणों की संख्या एवं प्रमाणों के स्वरूप में पाई जाने वाली भिन्नता तथा प्रमाणान्तर्भाववाद के कारण को बहुधा लोग ज्ञानमीमांसीय मतभेद मान बैठते हैं। इसी प्रकार भारतीय दर्शन में पाए जाने वाले प्रमाण सम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था तथा प्रमाण–प्रमेय के पूर्वा पर के विवाद को भी अक्सर लोग ज्ञान मीमांसीय विवाद समझ बैठते हैं, जबकि इन विवादों की मूल भित्ति तत्वमीमांसीय पूर्वाग्रहों पर आधृत होती है। लेकिन यह मूल भित्ति ऊपरी तौर पर नजर नहीं आती है।

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन में दिखलाई देने वाली भिन्नता एवं वैकल्पिक दृष्टिकोणों के मूल में निहित कारण को लेकर संपूर्ण भारतीय दर्शन दो खेमों में बंटा हुआ दिखलाई देता है। एक तरफ बौद्ध दर्शन खड़ा हुआ दिखलाई देता है जो कि 'मेयाधीना मान सिद्धि' या प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि अर्थात् 'प्रमेयो के द्वारा प्रमाणों की सिद्धि होती हैं' के विचार को प्रस्तुत करता है। जबकि दूसरी तरफ बौद्धेत्तर दार्शनिक खड़े हुए दिखाई देते हैं जो कि मेयाधीना मानसिद्धिः एवं प्रमेय सिद्धिः प्रमाणादि के विपरीत 'माना धीना मेय सिद्धि' एवं प्रमाणसिद्धिः सर्वेषां व्यवस्थितिः का उद्घोष करते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि प्रमाण–प्रमेय के पूर्वापर के निर्धारण को लेकर भारतीय दर्शन ब्राह्मण परंपरावादी दर्शन (वैदिक दर्शन) और श्रमण परंपरावादी दर्शन (अवैदिक दर्शन) नामक दो खेमों में बंटा हुआ दिखलाई देता है, जिसमें ब्राह्मणवादी परंपरा (वैदिक दर्शन) की ओर से न्याय दर्शन केंद्रीय भूमिका का निर्वाहन करते हुए प्रतिनिधित्व करता है, जबकि दूसरी तरफ श्रमणवादी परंपरा की ओर से बौद्ध दर्शन केंद्रीय भूमिका का निर्वहन कर मोर्चा संभालता हुआ दिखलाई देता है। भारतीय दर्शन में पाए जाने वाले प्रमाण–प्रमेय के पूर्वापर के विवाद के दर्शन को हिंदू धर्म तथा बौद्ध धर्म की तत्वमीमांसीय प्रस्थापनाओं के विवाद एवं प्रभावमत्तता के रूप में भी समझा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दर्शन में उपस्थित प्रमाणान्तर्भाववाद के मूल में निहित कारण को अग्रलिखित बिंदुओं के माध्यम से जाना–समझा जा सकता है–

1. लक्षणमूलक ज्ञानमीमांसा और प्रमाणान्तर्भाव

भारतीय दर्शन में आस्तिक दर्शन कहे जाने वाले दार्शनिक संप्रदाय अपनी प्रमाण मीमांसा में इस बात का दावा करते हुए दिखलाई देते हैं कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से होती है। यही कारण है कि नैयायिकों ने प्रमाणों के प्रमेय निरपेक्ष, (आकारिक) स्वरूप को निर्धारित करने के लिए 'लक्षणमीमांसा' को आधारभूत महत्त्व प्रदान करते हुए 'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' और 'मानसिद्धिश्च लक्षणात्' के अभिगम को प्रस्तावित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ तक प्रमेयों की सिद्धि का प्रश्न है, उसे प्रमाणपूर्वक ही होना चाहिए, लेकिन स्वयं प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणान्तर से न होकर लक्षणपूर्वक होती है। यहाँ सिद्धि का तात्पर्य प्रमाणों के स्वरूप निर्धारण से है और वह भी ऐसा स्वरूप जो प्रमेय निरपेक्ष अथवा वस्तुस्थिति से तटस्थ हो।

न्याय–परंपरा में प्रमाणमीमांसा के पूर्वसूत्र के रूप में लक्षणमीमांसा के प्रति आत्मविश्वास इतना अधिक रहा है कि कभी–कभी परंपरा में गर्वपूर्ण उक्तियां देखने को मिलती हैं। जैसे–एक–एक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने से ऋषि भी पदार्थों के अनत तक नहीं पहुँच सकते हैं, किन्तु विद्वान लोग सिद्ध पदार्थों के लक्षण की सहायता से पदार्थों के अन्त तक पहुँच जाते हैं।[3] साधारणतया व्यावृत्ति और वाग्व्यवहार को लक्षण का प्रयोजन माना जाता है।[4] इस रूप में 'लक्षण' वह लोकप्रसिद्ध आकार है, जो लक्ष्य में रहता है और लक्ष्य को उसके सजातीय तथा विजातीयों से अलग करता है। उदाहरण के लिए हम अपने साधारण अनुभव के द्वारा ही किसी असाधारण लक्षण के द्वारा बहुत सी गायों के बीच अपनी गाय को पहचान लेते हैं। यद्यपि इस तरह से किसी असाधारण गुण के द्वारा अपनी गाय की पहचान, उस गुण को गाय का तर्कतः पुष्ट या शुद्ध लक्षण नहीं बनाती तथापि इससे व्यवहार चलता ही है। अतएव लोकव्यवहार में हम कहीं से अपनी ज्ञान यात्रा प्रारंभ करते हैं और वहीं से आगे बढ़कर प्रमाण प्रमेय विवेचन तक पहुँचते हैं। यद्यपि हम बाद में अपने उपक्रम की परीक्षा भी करते हैं, तथापि उसी उपक्रम के द्वारा हमारा सारा ज्ञान विकसित होता है। भासर्वज्ञ विशेष, लक्षण, चिन्ह, अंक को पर्यायवाची मानते हैं और उनके माध्यम से लक्ष्य की पहचान करते हैं। उनका कहाना है कि संदेह स्थलों में भी विशेष का संदर्शन होने से संदेह दूर हो जाता है। इस प्रकार 'विशेष' लक्षण का कार्य करता है। वह अपने लक्ष्य को निश्चित कर देता है। इस पर यदि कहा जाय कि ऐसे लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त हुआ करते हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे लक्षण से भी लक्ष्य की पहचान तो हो ही जाती है। उदाहरण के लिए मैं अपनी गाय को विलक्षण सींग से पहचान लेता हूँ। यद्यपि विलक्षण सींग एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतिव्याप्त लक्षण है, तथापि वह अपना कार्य कर देता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ मुख्य मुद्दा लक्ष्य के बोध का है और वह जिसके द्वारा होता है वही लक्षण है। लक्षण चाहे प्रकृत में दुष्ट और निर्दुष्ट जो भी हो, सामान्यतः लक्ष्य का बोध होने पर लक्ष्य उससे अप्रभावित ही रहता है। अतः लक्षण करना संभव है; व्यवहारोपयोगी है और उसकी निर्दुष्टता एवं सदोषता के लिए परीक्षा परिष्कार का द्वार सदैव खुला हुआ है।

नैयायिकों ने इस लक्षणमीमांसा का प्रयोग अपने प्रमाणमीमांसीय चिंतन में बहुधा किया है। इन लोगों ने प्रमाणों को जिस रूप से परिभाषित किया है वे सभी प्रमाणों के स्वरूप लक्षण कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनके द्वारा प्रमाणों के प्रातिस्विक अर्थात् प्रतिविषय नियत विशेषताओं पर प्रकाश नहीं डाला गया है, बल्कि उन प्रमाणों के सामान्य रूपों की खोज की गई है उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, अनुमान वह है जो व्याप्ति और पक्षधर्मता के समुचित ज्ञान से उत्पन्न होता है, शब्द वह है जो व्यक्त शब्द से उत्पन्न होता है। इन सभी परिभाषाओं को तत्तद् प्रमाणों का सामान्यलक्षण कहा जाता है, जो अपने स्वरूप में प्रमेय निरपेक्ष, वस्तुस्थिति से तटस्थ अर्थात् प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान की प्रातिस्विक स्थितियों से सम्बद्ध नहीं हैं। नव्यन्याय परंपरा में ऐसे लक्षणों की भरमार है। वे लोग केवल नये लक्षणों को ही समाने नहीं लाये बल्कि उन्होंने पुराने लक्षणों का परिष्कार भी किया है।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय परंपरा के अंतर्गत न्याय दर्शन में, कम–से–कम, प्रमाणमीमांसा का विकास तत्त्वमीमांसीय अधिभारों से मुक्त रूप में हुआ है। दूसरे शब्दों में न्याय दर्शन मूलतः यद्यपि एक प्रमेयशास्त्र है, लेकिन इस दर्शन की प्रमाणमीमांसा पूरे तौर से प्रमेय–अवग्रहपूर्वक विकसित नहीं हुई है। इसीलिए नैयायिकों को पहले लक्षणैकचक्षुक और बाद में प्रमाणैकचक्षुक कहा जाता है। वस्तुतः 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः' की मूलभूत दृष्टि के संदर्भ में प्रमाणमीमांसा का विकास इसी रूप में होना भी चाहिए, लेकिन इस दृष्टि की कुछ अपनिष्पत्तियां भी हैं और फिर नैयायिकों के प्रमाणचिंतन में यह दृष्टि कितनी फलित हुई है, यह भी विचारणीय है। प्रमेय–अवग्रह से मुक्त प्रमाण–मीमांसा के विकास का तात्पर्य है–प्रमाणों के स्वरूप को एक 'अकाारिक संस्थान' के रूप में सुनिश्चित करना। परंतु यह बाल आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में न्यायशास्त्र की मूलभूत परिभाषा 'प्रत्यक्षगमाश्रितं चानुमानम्, सान्वीक्षा। तया प्रवर्त्तत इत्यान्वीक्षिकी, न्यायविद्या' से मेल नहीं खाती। क्योंकि यह परिभाषा स्पष्ट रूप से आगमप्रोक्त तत्त्वमीमांसीय अवग्रह को स्वीकार करती प्रतीत होती है।

दृष्टव्य है कि गौतमीय न्यायशास्त्र के विकास के विभिन्न सोपानों पर गंभीरता से विचार करने पर ऐसे कई संकेत प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर यह कहा भी जा सकता है कि एक स्थिति के बाद गौतमीय प्रमाणमीमांसा का विकास प्रमेय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निरपेक्ष ढंग से अग्रसारित हुआ है। वास्तव में विकास की यही दिशा नव्यन्याय को प्राचीन न्याय से अलग करती हुई प्रतीत होती है। फिर भी, इस रूप में भी नव्यनैयायिकों के तर्कशास्त्रीय प्रमाण चिंतन का विकास हमें यह कहने की खुली छूट नहीं देता कि यह तत्वमीमांसीय पूर्वाग्रह से पूर्णतः मुक्त ही रहा हो। इस प्रकार आस्तिक दर्शनों की ज्ञानमीमांसा में लक्षणमीमांसा पर आधारित प्रमाणमीमांसा का एक तर्कशास्त्र के रूप में विकास भी तत्वमीमांसीय अवग्रह से मुक्त नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इसके दो महत्वपूर्ण कारक हैं। पहला यह कि लक्षणमीमांसा को एक पद्धति के रूप में इतनी स्वायत्तता प्राप्त ही नहीं हो सकती। दूसरा यह कि कोई सामान्य लक्षण विश्वतोमुखीन हो, यह आवश्यक नहीं, क्योंकि वैकल्पिक सामान्यलक्षण भी संभव हैं और फिर एक ही परंपरा में लक्षणों के परिष्कार का इतिहास बिलकुल भिन्न आशय का द्योतन कराता है।

यदि गौतमीय न्यायशास्त्र की मूलभूत दृष्टि 'मानाधीना मेयसिद्धिः' पर विचार करें तो कहा जा सकता है कि यही दृष्टि अपनी चरम परिणति में प्रमाणों की अवधारणा प्रमेय निरपेक्ष रूप में अथवा एक आकारिक संस्थान के रूप में करने की अपेक्षा लिए हुए है। यदि सब कुछ प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए तो सब कुछ के अंतर्गत प्रमाण भी आते हैं, अतः प्रमाणों को भी इत्तर अथवा अवान्तर प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए। जहाँ तक प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि होने की बात है तो यह लोकप्रसिद्धि भी है, लेकिन स्वयं प्रमाण ही जब अन्य प्रमाण (अनुमान) से अपनी सिद्धि करने लगेंगे तो या तो अनवस्था दुर्निवार होगी या फिर प्रमाण 'प्रमेय' होने लगेंगे और तब प्रमाण तथा प्रमेय की भेदपूर्ण स्थिति ही समाप्त हो जायेगी, जिस पर नैयायिक अपनी प्रमाणमीमांसा का ढाँचा खड़ा किये हुए हैं।

पुनः, अनुभव के प्रागविमर्शी धरातल पर प्रमाण जिस रूप में प्रथमतया उपलब्ध होते हैं वहाँ यह नहीं कहा जा सकता है कि वे प्रमेय–निरपेक्ष एवं वस्तुस्थितियों से तटस्थ होते हैं। वहाँ तो उनका स्वरूप प्रतिविषय नियत रूप में ही उपलब्ध होता है। यह बात सही है कि नैयायिक अपनी लक्षणमीमांसा से प्रमाणों के उस सामान्यलक्षण को सामने लाने का प्रयास करते हैं जो वस्तुस्थिति से तटस्थ हो, लेकिन प्रमाणों के ऐसे स्वरूप की अवधारणा क्या अननुप्रयुक्त प्रामण की अवधारणा नहीं है? कोई भी प्रामण जब अनुप्रयुक्त रूप में, अपनी प्रातिस्विक स्थिति में, व्यवहार्य होता है तब प्रमेय–निरपेक्ष नहीं हो सकता, अर्थात् अपने स्वरूप में तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को आत्मसत् करने लगता है। कम से कम दर्शनशास्त्र में तो तत्त्वमीमांसीय प्रभाव से सर्वथा मुक्त प्रमाणों की अवधारणा ही नहीं की जा सकती है। लेकिन नैयायिक इस बात को मानने के लिए कभी तैयार नहीं होते हैं। जबकि उनकी परंपरा में ही उन लक्षणों के वैकल्पिक एवं विरोधी रूप भी प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, जैसे यदि न्याय परम्परा में प्रत्यक्ष के लक्षण के परिष्कार को क्रमबद्ध और आंतरिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विकास की दृष्टि से देखा जाय तो 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' से लेकर 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' तक के परिष्कार को उत्तरोत्तर तत्त्वमीमांसीय प्रभावों को आत्मसात् करने वाला, उनसे अनुकूलता स्थापित करने वाला परिष्कार कहा जा सकता है। एतत्संबंधी सभी परिष्कारों का मुख्य उद्देश्य प्रत्यक्ष के लक्षण में ज़ाति सत्ता और ईश्वर–प्रत्यक्ष को समाविष्ट करना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है।

पुनः, अनुमान के संबंध में भी ऐसा ही हुआ है जबकि अनुमान को प्रत्यक्ष की अपेक्षा और अधिक तार्किक विशुद्धता में प्रस्तावित किया जाता है। गंगेशोपाध्याय ने तत्त्वचिंतामणि के व्यधिकरण प्रकरण में चतुर्दश प्रकार के वयाप्ति–लक्षणों का खंडन कर अपने सिद्धांत लक्षण को प्रतिपादित किया है। उन चौदहों लक्षणों में कोई विशेष दोष नहीं है, लेकिन वे सभी प्रधान रूप से इसलिए अव्याप्त कहे गये हैं कि केवलान्वयी को व्याप्त नहीं करते। प्रश्न उठता है कि केवलान्वयी के प्रति इतना मोहग्रस्त होने के पीछे क्या कारण है और क्यों सिद्धांत–लक्षण का चूड़ान्त स्वरूप नैयायिकों को केवलान्वयी व्याप्ति में ही प्राप्त होता है। उत्तर है कि केवलान्वयी व्याप्ति के बिना 'सर्वं अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वम्' की प्रष्तिठा नहीं हो सकती है। अतएव कहा जा सकता है कि केवलान्वयी व्याप्ति तक अनुमान का विस्तार नैयायिकों के वस्तुवाद के लिए तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता है दूसरी ओर हम देखते हैं कि अद्वैतवेदांती केवलान्वयी अनुमान का खंडन करते हैं, क्योंकि यदि उनके मत में केवलान्वयी अनुमान को वैध मान लिया जाय तो 'विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्' उससे बाहर हो जाता है जो उनकी विचार–सारणी के लिए आधारिक है। वास्तव में विषयरूपेण आत्मा की अज्ञेयता को 'सर्वंज्ञेयं' का अपवाद मानना अद्वैतवेदांतियों की एक और गहरी सूझ या आधारभूत तत्त्वमीमांसीय मान्यता है।

यहाँ विचारणीय है कि लक्षणमीमांसा पर आधारित प्रमाणों के स्वरूप निर्धारण का ऐसा उपक्रम जो किसी वस्तुस्थिति विशेष अथवा अन्तर्वस्तु से तटस्थ हो, एक प्रकार से नैयायिकों के प्रमाण चिंतन को सर्वतंत्र स्वतंत्र स्वरूप प्रदान करता है। किन्तु तब उन्हें विशेष प्रकार की प्रमेय व्यवस्था में अभिनिवेश नहीं रखना चाहिए। लेकिन फिर भी नैयायिक पूरी कटट्रता के साथ एक विशेष प्रमेय तंत्र के प्रति अभिनिवेश रखते ही हैं।[5] अतएव उन्हें इसका प्रबल विरोध भी सहना पड़ा है। इस विरोध का पहला रूप प्रमेय तंत्रात्मक है, जिसे न्याय, बौद्ध और वेदांत के बीच के ऐतिहासिक खंडन–मंडन के रूप में देखा जा सकता है। अवधेय है कि खंडन–मंडन के मूलभूत मुद्दे प्रायशः प्रमेयमूलक ही रहे हैं। इस विरोध का एक दूसरा रूप 'लक्षणमीमांसा' के खंडन से संबंधित है जो नैयायिकों की मूलभूत मान्यता को ही सर्वतोभावेन निरस्त करता हुआ प्रतीत होता है।

इस प्रकार यहाँ हमने नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा से संबंधित कुछ चुने गये उदाहरणों के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया है कि लक्षणों के स्वरूप–निर्धारण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में तात्त्विक दृष्टि का निर्दिष्ट हस्तक्षेप होता ही है। अतः इस बात को भारतीय प्रमाणमीमांसा के अधिकांश प्रकरणों की व्याख्या करते हुए दिखाया जा सकता है कि किसी भी दार्शनिक संप्रदाय में स्वीकृत प्रमाण अपनी अवधारणात्मक योजना में एक विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसा से संरक्षण पाते हैं और विरासत भाव से उससे निर्देशित भी होते हैं। यह बात अलग है कि कोई इसे प्रकट रूप से स्वीकार करता है किन्तु दूसरे उसे न स्वीकार करते हुए भी उससे प्रभावित तो रहते ही हैं। यह तथ्य तब उभर कर सामने आता है जब भारतीय दर्शन में प्रमाणमीमांसीय प्रकरणों की वैकल्पिक व्याख्याओं को देखते हुए हम प्रश्न उठायें कि कोई विशेष दार्शनिक संप्रदाय किसी प्रमाणमीमांसीय प्रकरण की ऐसी ही व्याख्या क्यों करता है, क्यों नहीं वह अन्यथा करता है? इसके उत्तर में हम यही पाते हैं कि प्रमाणमीमांसीय प्रकरणों की वैकल्पिक व्याख्याओं के माध्यम से दो या दो से अधिक दार्शनिक संप्रदाय अपने तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही दुहराते हुए उसे स्पष्टता एवं दृढ़ता प्रदान करते हैं।

अंत में नैयायिकों की 'लक्षणमीमांसा' और 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितः' के संबंध में यदि यह मान भी लिया जाए कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से होती है और प्रमाण स्वयं में लक्षण से सिद्ध होते हैं तो भी इससे प्रमाणों की प्राथमिकता अनिवार्य रूप से सिद्ध नहीं होती, वह भी इस अर्थ में कि तत्वमीमांसा ही प्रमाणमीमांसा का अनुगमन करती है। अवधेय है कि अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर जहां प्रमाण हमें अपने प्रातिस्विक रूप में प्राप्त होते हैं (जैसा कि भासर्वज्ञ ने स्वीकार किया है) और उनका विश्लेषण तथा सामान्यीकरण करते हुए हम उनके लक्षण का निर्धारण करते हैं, वहीं हम तात्त्विक कोटियों को भी अनुभव में अंतर्निविष्ट रूप से प्राप्त कर उनका भी विश्लेषण एवं सामान्यीकरण करते हुए उनके लक्षण निर्धारित कर सकते हैं। इस तरह कोई तात्त्विक कोटियों को प्रथमतया निर्धारित कर प्रमाणों को ही उनकी अनुरूपता में निरूपित कर सकता है। अतः यह मानते हुए भी कि हमें प्रमेयों का ज्ञान किसी–न–किसी प्रमाण से ही प्राप्त होता है, प्रमाण–प्रमेय के अवधारणीकरण में प्रमाणमीमांसा पर तत्वमीमांसीय अधिभार की अनिवार्यता को स्वीकार करना ही पड़ता है।

2. प्रमाण मूलक ज्ञानमीमांसा और प्रमाणान्तर्भाव

प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों में 'मानाधीनामेयसिद्धिः' को सर्वतंत्र–स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया गया है। सांख्यवादियों का 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणसिद्धिः'[6] और वात्स्यायन का 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्'[7] इतिविषयक प्रस्थानमूलक अभिकथन के रूप प्रसिद्ध हैं। गंगेश उपाध्याय तो इससे भी आगे बढ़कर "प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः" का उद्घोष करते हैं।[8] सामान्यतया इनकी प्रमाणमीमांसा का समारम्भ इस प्रश्न से होता है कि अमुक–अमुक प्रमाण उपलब्ध हैं और इनसे हम क्या सिद्ध कर सकते हैं जो वास्तव में अस्तित्ववान है। उपलब्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai •

प्रमाणों की संख्या तो निश्चित की जा सकती है लेकिन प्रमेयों के संबंध में ऐसा किया जाना संभव नहीं। अतएव नैयायिकों को अन्ततः अपने आप को अनियतपदार्थवादी ही स्वीकार करना पड़ता है।[9] न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने संभवतः इसीलिए प्रमाणविषयक सूत्रों को प्रथम स्थान पर रखा है। चूँकि इनकी दृष्टि में प्रमाण ही समस्त पदार्थों का व्यवस्थापक हुआ करता है, एतदर्थ प्रमाणमीमांसा को प्राथमिकता देते हुए नैयायिकों ने 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' को प्रमाण का सामान्यलक्षण स्वीकार किया है, क्योंकि प्रमाण–प्रवृत्ति के बिना प्रमेयविषयक प्रमा की उपलब्धि नहीं होती। अभिधेय और ज्ञेय के रूप में पदार्थो का सामान्यलक्षण भी प्रमाणमीमांसा की प्राथमिकता को ही सूचित करता है। यहां अवधेय है कि नैयायिकों ने प्रमाणों की गणना भी षोड्श पदार्थों के अंतर्गत की है। इस दृष्टि से प्रमाण भी प्रमेय कोटि में समाहित हो जाते हैं। ऐसा अभिमत अन्ततः प्रमाण–प्रमेय के मौलिक भेद को धूमिल करता हुआ प्रतीत होता है।

इस स्थिति में 'मानाधीनामेयसिद्धिः' मानने वालों के लिए स्वयं प्रमाणसिद्धि का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। क्योंकि यदि सब कुछ प्रमाण से ही सिद्ध होना चाहिए तो प्रमाण ही किस प्रकार स्वयंसिद्ध हो सकते हैं। प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणान्तर के द्वारा मानने पर अनवस्था की प्रसक्ति स्वाभाविक ही है। अनवस्था–ग्रस्त होने से जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे की सिद्धि का हेतुत्व किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? यदि प्रमाण की सिद्धि लक्षण के द्वारा मानी जाये[10] (मानाधीनामेयसिद्धिः मानसिद्धश्च लक्षणात्) तो लक्षण का ज्ञान भी प्रमाणपूर्वक ही होगा और फिर वही अनवस्था पूर्ववत् आसन्न रहेगी। प्रमाण निरपेक्ष लक्षण जैसी कोई चीज 'स्वलक्षण' तो हो सकती है किन्तु वह यहाँ अभिप्रेत नहीं। अतएव लक्षण का प्रमाणमुखेन होना एक अनिवार्य स्थिति है और ऐसा होने से उसका अनवस्थापाती होना भी उतना ही अनिवार्य है। इस प्रकार की आधारभूत आपत्तियों से बचने के लिए कुछ लोगों ने प्रमाणों को 'प्रदीपवत्'[11] और कुछ लोगों ने ज्ञान को 'स्वतः प्रकाश' मानते हुए ज्ञानमात्र को नित्य आत्मा का धर्म स्वीकार किया है।

जहाँ तक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है वह विषय से स्वतंत्र होता है। विषय प्रदत्त होते हैं और ज्ञान का प्रदत्त विषय से कोई तनाव नहीं होता है। प्रदत्त विषय की निजरूपता को ज्ञान सकारात्मक अथवा नकारात्मक रूप से प्रभावित भी नहीं करता है। ऐसी स्थिति में प्रमाणमीमांसा का कार्य तटस्थ निरूपण और विश्लेषण के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? 'प्रमेयसिद्धि' में प्रमाणों की भूमिका को किसी वस्तु को खोज निकालने के अर्थ में अन्वेषणात्मक समझना एक भूल है। क्योंकि हम यह नहीं कह सकते कि किसी वस्तु ही को हम इस रूप से जानते हैं इसीलिए वस्तु ऐसी है और वस्तु विषयक हमारा ज्ञान उसे उस रूप से निरूपित करता है। वास्तव में कहना तो यह चाहिए कि वस्तु ऐसी है, इसीलिए तद्विषयक हमारा ज्ञान ऐसा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। एतावता 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' की निष्पत्ति इस बात में होती है कि प्रत्येक प्रमाणमीमांसा के लिए एक तत्त्वमीमांसा आवश्यक है, लेकिन प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के लिए प्रमाणमीमांसा पूर्वापेक्षित नहीं है।

वस्तुतः तत्त्वमीमांसीय अधिशासन के बिना कोई प्रमाणमीमांसा प्रवर्तित ही नहीं हो सकती है। यदि कभी–कभी कोई प्रमाणमीमांसा अपनी विकसित अवस्था में तत्त्वमीमांसीय प्रत्ययों का कुछ अंशों में काट–छांट करती है तो इसे तंत्रबद्ध प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में तत्त्वमीमांसा को आबद्ध करने की तत्त्वमीमांसीय प्रेरणा ही समझी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए आवश्यक षड्विध सन्निकर्ष की अवधारणा को लिया जा सकता है। यह षड्विध सन्निकर्ष पदार्थों के वस्तुगत संबंधों का ही तो एक ताना–बाना है जिसमें पदार्थ भी उतने ही सत् हैं जितना कि उनके बीच का संबंध? क्या पदार्थों के प्रकृत संबंध के बीच ही प्रत्यक्ष प्रमाण का फलित और उपलब्धिकारक होना प्रत्यक्ष की नितांत प्रमेयमूलकता नहीं है? क्या प्राचीन और नव्यनैयायिकों का अनुमान विषयक सिद्धांत दो वस्तुओं के मध्य अनिवार्य, सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ संबंध की तत्त्वमीमांसीय अवधारणा पर आधारित नहीं है? क्या गंगेश का केवलान्वयी व्याप्ति के प्रति अत्यधिक मोह प्रदर्शित करना "अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वं पदार्थत्वम्" की पूर्वस्वीकृति के अनुरूप अपनी प्रमाणमीमांसा को तराशने का उत्कट प्रयास नहीं है? क्या अद्वैतवेदांतियों द्वारा केवलान्वयी का कट्टरता से खंडन 'विज्ञातारं केन विजानीयात्' की प्रतिष्ठा मात्र नहीं है? इस प्रकार के कतिपय अन्य उद्धरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनके द्वारा प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसा के कठोर अधिशासन को दिखाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त अधिकांश आस्तिक दर्शनों की प्रमाणमीमांसा में श्रुत्यादि आर्ष स्त्रोतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका देखी जाती है। आर्षज्ञान के रूप में शब्दप्रमाण को स्वीकार कर लेने मात्र से शब्दप्रमाण द्वारा प्रस्तावित परिसीमा में प्रत्यक्षादि प्रमाण अपनी क्रियाशीलता और अनुप्रयुक्त होने के लिए प्रतिबंधित हो जाते हैं।[12] ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की संपूर्ण भूमिका का 'अपेक्षापूर्ति' में रूपान्तरित हो जाना स्वाभाविक है। क्या यह आनुभविक प्रमाणों पर, जिनके संदर्भ में 'मानाधीनामेयसिद्धिः' को प्रस्तावित किया जाता है, एक उच्च स्तरीय प्रमाण के द्वारा तत्त्वमीमांसा का अंदर ही अंदर अधिपत्य नहीं है? अवधेय है कि यदि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के पक्षधर अपनी प्रतिज्ञा के प्रति आद्यन्त रूप से ईमानदार हैं तो उनके प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों एवं निष्कर्षों में इतना भेद क्यों है? क्यों नैयायिकों के लिए प्रत्यक्ष का विषय "सामान्य विशिष्ट व्यक्ति" और मीमांसकों के लिए "सामान्य और विशेष का आश्रय व्यक्ति" और वेदांतियों के लिए "महासामान्य ब्रम्हा" है? प्रमाणमीमांसा के उत्तल धरातल पर दिखने वाले ऐसे भेद वास्तव में तत्त्वमीमांसीय ही हैं और तात्त्विक पृष्ठभूमि में ही इनकी व्याख्या की जा सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार उपर्युक्त समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि 'मानाधीनामेयसिद्धिः' के पक्षधर अन्ततः प्रमाणों का स्वरूप निर्धारण एवं उनका विनियोग भी उसी रूप में करते हैं जैसी प्रमेय विषयक तत्त्वमीमांसीय अवधारणा को वे पूर्वकल्पित किये रहते हैं। इसी के द्वारा प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के मध्य अधिकाधिक संवाद की स्थापना हो सकती है। भारतीय दर्शन के आस्तिक संप्रदायों की प्रमाणमीमांसीय योजना में यह संवाद 'मानाधीनामेयसिद्धि'' के चलते कहीं–कहीं आधारभूत रूप से व्यभिचरित होता हुआ प्रतीत होता है। और जब वे पुनः इस कमी के प्रति जागरूक होते हैं तो संवाद स्थापित करने की प्रक्रिया में उनके प्रामणचिंतन पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार बढ़ने लगता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण ऐतिहासिक भी रहा है। वह यह कि आस्तिक न्यायशास्त्र उपनिषदों के 'वाकोवाक्यम्' से प्रारंभ होकर 'वादविद्या' से होते हुए 'आन्वीक्षिकी विद्या' के रूप में विकसित हुआ है। इस दीर्घकालिक विकासक्रम में एक निनिश्चत तत्त्वमीमांसीय लक्ष्य का अभाव ही था। पहली बार वात्स्यायन ने न्यायशास्त्र को आन्वीक्षकी विद्या के रूप परिभाषित करते हुए उसे प्रमाणशास्त्र रूप दिया और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से आगम में कही गई बातों को प्रमाणित करना उसका लक्ष्य निर्धारित किया गया।[13] इस तरह आस्तिक दर्शनों की तत्त्वमीमांसा जैसे–जैसे स्पष्ट होती गई और उसके लिए प्रमाणशास्त्र की आवश्यकता महसूस हुई वैसे–वैसे ततद् दर्शनों के प्रमाणशास्त्र पर तत्त्वमीमांसा का प्रभुत्व स्थापित होता गया। अतएव प्रमाणमूलक प्रमेयसिद्धि की अवधारणा का विकास प्रमेयतंत्रात्मक प्रमाण विनियोग में पर्यवसित होने का इतिहास रहा है।

अतः निसंदेह यह कहा जा सकता है कि लक्षणमीमांसा प्रमाणों से प्रमेय सिद्धि का दावा करने वाले आस्तिक दर्शनों की प्रमाणमीमांसा में दिखलाई देने वाला प्रमाण संख्या भेद, प्रमाणांतर (प्रमाणों में अंतर) एवं प्रमाण संप्लावात्मक प्रमाणान्तर्भाव प्रमाण मूलक प्रमाणान्तर्भाव न होकर मूलतः प्रमेयमूलक या तत्वमीमांसा मूलक प्रमाणान्तर्भाव ही है। वस्तुतः प्रमाण केवल पूर्वगृहीत तत्वमीमांसा का बौद्धिक निदर्शन मात्र करते हैं। अतएव आस्तिक दर्शनों का प्रमाणों से प्रमेयसिद्धि अथवा प्रमेयापादन का दावा वैसा ही नहीं है जैसा कि समझा जाता है। प्रत्येक प्रमाणमीमांसीय चिंतन की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। हमारा प्रमाणमीमांसीय चिंतन उसी पृष्ठभूमि से आरंम्भ होता है और अन्ततः हमें उसी में लौटना होता है। अलग–अलग प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचनाओं की विशिष्टता केवल इस बात में निहित होती है कि ये भिन्न–भिन्न प्रकार की तात्त्विक दृष्टि या सत् विषयक प्रतिमानों को निदर्शित करते हुए उनके पारस्परिक भेदों को प्रतिपादित करने में सहायक हुआ करती हैं।

3. प्रमेय मूलक ज्ञानमीमांसा और प्रमाणान्तर्भाव

भारतीय दर्शन के वे दार्शनिक संप्रदाय, जो कि वेदों में लिखी गई गलत बातों,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कपोल कल्पनाओं, आडंबरों एवं किसी वर्ग विशेष को धर्म के नाम पर ठगने वाली बातों का विरोध करते हैं, उन्हें नास्तिक दर्शन कहा जाता है। नास्तिक दर्शन कपोल कल्पित–स्वर्ग, नरक, ईश्वर, पुनर्जन्म, परलोक, हिंसा, बलि–प्रथा, नरबलि, मृत्युभोज, श्राद्ध, जाति–वर्ण भेद अन्य धार्मिक आडंबरों एवं अंधविश्वासों का विरोध कर मानवतावादी समतामूलक समाज को स्थापित करने की बात करते हैं। चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन को भारतीय दर्शन में नास्तिक दर्शन कहा जाता है। भारतीय दर्शन में प्रमाणन्तर्भाव के प्रसंग में नास्तिक दर्शनों की ओर से बौद्ध दर्शन केंद्रीय भूमिका निर्वहन कर प्रतिनिधित्व करता हुआ दिखलाई देता है। भारतीय दर्शन के इतिहास में आस्तिक दर्शनों के प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि (मानाधीनामेयसिद्धिः) के विचार के विपरीत प्रमेयों से प्रमाणों की सिद्धि (मेयाधीनामानसिद्धिः) की दार्शनिक सूझ सर्वप्रथम बौद्धों ने प्रस्तावित की है।

नागार्जुन के पश्चात बौद्ध दार्शनिक दिग्नांग ने 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा' को अपना स्वयुथ्य पक्ष बनाया और उसे अनात्मवाद तथा क्षणिकवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। ऐसा करते हुए दिग्नांगीय प्रमाणमीमांसा एक ओर नैयायिकों के 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के विरोध में खड़ी होती है तो दूसरी ओर नागार्जुन द्वारा 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के चतुर्दिक खण्डन का उचित विकल्प प्रस्तुत करता है। यहां अवधेय है कि विग्रहव्यावर्त्तनी में नागार्जुन ने 'प्रमाण से प्रमेय सिद्धि' का खंडन तो स्वतंत्र रूप से किया है, लेकिन 'प्रमेय से प्रमाणसिद्धि' का खंडन उन्होंने स्वतंत्र रूप से न कर 'प्रमाण से प्रमेयसिद्धि' के खंडन को ही पुष्ट करने के लिए किया है। दिग्नांग जब यह कहता है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक विषय द्वैविध्य के चलते प्रमाण न तो एक और न तृतीयादि बल्कि प्रत्यक्ष और अनुमान नामक दो ही हो सकते हैं तो इस अभ्युपगम की मूल समस्या प्रमाणसिद्धि विषयक लोच्छेदक अनवस्था नहीं रह जाती बल्कि प्रमाण निरपेक्ष विषय द्वैविध्य की उपस्थापना उसकी केन्द्रीय समस्या बन जाती है। बौद्ध नैयायिक इसका समाधान 'द्वैराश्य भेद' के सिद्धांत द्वारा करते हैं।

इस प्रकार भारतीय दार्शनिक चिंतन में दिग्नांग से प्रमाणमीमांसा के एक नवीन प्रस्थान का प्रारंभ होता है। इसे प्रमाणशास्त्र के गौतमीय प्रस्थान के समानान्तर 'बौद्धप्रस्थान' कहा जाना अधिक उचित होगा। दिग्नांगोत्तर काल में न्याय–बौद्ध–संघर्ष के परिणामस्वरूप इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। बौद्ध परंपरा में इसकी प्रतिष्ठा एक स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में हुई है, जिसे स्वतंत्र विज्ञानवाद अथवा युक्तानुयायी विज्ञानवाद के नाम से जाना जाता है। यह स्वाभाविक है कि इनका प्रमाणमीमांसीय चिंतन प्रथम दृष्ट्या इनकी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि में मूलित है परंतु लाघव दृष्टि से इसे बौद्ध दर्शन के सभी संप्रदायों के लिए, थोड़े बहुत मतभेदों के साथ, उपादेय कहा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्ध प्रमाणमीमांसा की शुरूआत ही इस प्रश्न से होती है कि हमारे ज्ञान की वह कौन सी अवस्थाएँ हैं, उनके कौन–कौन से प्रकार हैं, उनकी क्या–क्या विशेषताएँ हैं, जिनमें हम अपनी प्रमेयपृक्षा को व्यवस्थित कर सकते हैं? सर्वत्र प्रमेय–दृष्टि की विशिष्टता ही प्रमाणमीमांसीय संरचना में अभिव्यक्त होती है। इस पृष्ठभूमि में 'अविसंवादी ज्ञानं प्रमाणम् प्रमेयकार्य हि प्रामणम्'[14] तथा 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्' आदि प्रतिपत्तियों से बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का ही अध्याहार होता है। वस्तुतः बौद्ध नैयायिकों की वैचारिक योजना में ज्ञान और यथार्थ की परस्पर परकीयता और समानांतर पृथकता नहीं है।[15] इस कारण भी उनकी प्रमाणमीमांसा में प्रमेयमूलकता का प्रवेश स्वाभाविक रूप से हो जाता है। बौद्ध नैयायिकों के लिए ज्ञान से परे और पृथक् किसी नितांत बाह्य वस्तु की अनुभवारूढ़ सत्ता अमान्य है। ज्ञान से बाह्य प्रतीत होने वाली वस्तुएं ज्ञान के ही आकार मात्रा हैं। बाह्य जगत् में उनकी स्थिति एक विकल्पात्मक प्रक्षेपण और संरचना होती है। वस्तुतः ज्ञान का विश्लेषण ही अंततः हमें वैषयिक बाध्यता से सर्वथा मुक्त एक स्वसंवित् विज्ञान की ओर ले जाता है। यह स्वसंवित् विज्ञान कोई ज्ञान की ही कोटि न होकर तात्विक सत् है। यही संपूर्ण प्रमाणमीमांसा का तात्विक अधिष्ठान है। बौद्ध न्याय में स्वसंवित् विज्ञान की पृष्ठभूमि में ही ज्ञान का द्वैरूप्य, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान का विभाजन तथा ज्ञानों की संश्लेषणात्मक एकता इत्यादि के मूलभूत संप्रत्यय व्याख्यायित हुए हैं। तत्वमीमांसा की इसी आधारभूमि पर बौद्ध नैयायिकों ने स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण नामक विषयक–द्वैविध्य तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक प्रमाण–द्वैविध्य की प्रमाणमीमांसा को स्थापित किया है।

नागार्जुनोत्तर काल भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन के विकास की दृष्टि से ऐतिहासिक और दार्शनिक महत्व का है। इस काल में दिग्नांग–धर्मकीर्ति अपने प्रमाणमीमांसीय चिंतन की रूपरेखा बनाते समय नागार्जुन के आक्षेपों के प्रति सतर्क रहे हैं और साथ ही उससे बचने का हर संभव प्रयास भी कई स्तरों पर किया। उनके प्रमाणमीमांसीय चिंतन का निहितार्थ केवल बौद्ध सम्मत प्रमाणशास्त्र का विकास करना ही नहीं था बल्कि ब्राम्हण दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय संरचनाओं का खण्डन करते हुए एक ऐसी संशोधनात्मक प्रमाणमीमांसा का ढांचा भी तैयार करना था जो नागार्जुन के संदेहवादी प्रकार और विस्थापक प्रकृति के आक्षेपों से यथासंभव मुक्त भी हो। अवधेय है कि नागार्जुनकृत प्रमाण–प्रमेय परीक्षा का ऐतिहासिक पूर्वपक्ष नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा रही है जिसकी मूलभूत मान्यता 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितः' है।[16] नागार्जुन ने इसका खण्डन चारों तरफ से घेरकर किया है। बौद्धों द्वारा नैयायिकों के 'मानाधीना मेयसिद्धिः' की परीक्षा करते हुए जहाँ प्रतिविकल्प के रूप में प्रमेय से प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उठाया गया है वहाँ भी इस विकल्प की दोषयुक्तता इस रूप में प्रदर्शित की गई है कि लोकबुद्धि में साधन (प्रमाण) से साध्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(प्रमेय) की सिद्धि मान्य है, साध्य से साधन की नहीं। अर्थात् 'मेयाधीनामानसिद्धिः' का निराकरण[17] वास्तव में "मानाधीना मेयसिद्धिः" का ही खण्डन करने के लिए किया गया है, स्वतंत्र रूप से नहीं। बौद्ध नैयायिक "मेयाधीनामानसिद्धिः" को ही मूलभूत मान्यता बनाकर अपनी प्रमाणमीमांसा को खड़ा करने का प्रयास करते हैं।

वस्तुतः बौद्ध नैयायिक प्रमाण–सिद्धि के प्रश्न में न उलझते हुए प्रमाण–निरपेक्ष प्रमेयों के अस्तित्व–व्यवस्थापन का प्रयास करते हैं। यह उनकी प्रमाणमीमांसा का केंद्रीय प्रश्न है, जिसका समाधान वे 'त्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद' की प्राक्कल्पना के आधार पर करते हैं। बौद्ध दार्शनिक आचार्य दिग्नांग अपने प्रमाणसमुच्चय में 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाण मीमांसा को प्रस्तावित करते हुए कहते हैं कि सिद्ध प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणों के दो ही प्रकार हैं। ये दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। इनके अतिरिक्त अन्य किसी को स्वतंत्र प्रमाण का दर्जा प्रदान नहीं किया जा सकता।[18] प्रत्यक्ष और अनुमानजन्य ज्ञान अर्थ से अव्यभिचरित होने के कारण क्रमशः अज्ञातार्थ प्रकाशक और अविसंवादी होते हैं। इनके अर्थ से अव्यभिचारित्व की सिद्धि प्रत्यक्षत्व और अनुमानत्व धर्मों के द्वारा होती है। शब्दत्व इत्यादि अन्य धर्म वास्तव में अर्थ से अव्यभिचारित्व के प्रयोजक नहीं हो सकते, क्योंकि शब्दी ज्ञान का अर्थ से कोई तात्त्विक निबंध नहीं होता। ऐसा इसलिए कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक प्रमेय पदार्थों के दो ही प्रकार हैं। प्रमाणमीमांसीय उपागम में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा गृहीत होते हैं। दिग्नांग के इस प्रस्ताव को 'प्रमेयान्तर्भाव एवं प्रमाणान्तर्भाव' की एक व्यापक अवधारणात्मक योजना के रूप में देखा जा सकता है।

इस प्रकार तथाकथित नास्तिक दर्शन प्रमेय मूलक प्रमाणमीमांसा एवं मेयाधीना मानसिद्धिः (प्रमेयों से प्रमाणों की सिद्धि होती है) के आधार पर अपनी ज्ञानमीमांसा को खड़ा करके प्रमेय द्वित्वपूर्वक प्रमाण द्वैविध्य को स्वीकार कर प्रमेयाश्रित प्रमाणान्तर्भाव को प्रस्तुत करते हैं। तथाकथित नास्तिक दर्शनों की प्रमेय मूलक प्रमाणमीमांसा भी वस्तुतः उनकी तत्वमीमांसीय भेदों को ही उजागर करती है। यही कारण है कि चार्वाक दर्शन पूर्णतः इहलौकिकवादी होने के कारण केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण की मान्यता देता है, जबकि जैन दर्शन एवं बौद्ध दर्शन को तत्वमीमांसीय मान्यताओं की प्रस्थापनाओं के लिए अनुमान को प्रमाण के रूप में स्वीकृत करना आवश्यक था। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रमेय मूलक प्रमाणान्तर्भाववादी तथाकथित नास्तिकों दर्शनों की प्रमाणमीमांसा में दिखलाई देने वाले भेद भी वस्तुतः ज्ञानमीमांसीय न होकर तत्वमीमांसीय ही हैं।

4. प्रमाण व्यवस्था और प्रमाणान्तर्भाव

प्रमाण व्यवस्था और प्रमाण सम्प्लव की समस्या एक ही प्रकरण के दो पहलू हैं। फलतः प्रमाणान्तर्भाव के प्रकरण में प्रमाण व्यवस्था के जुड़ते ही प्रमाण सम्प्लव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भी प्रमाणान्तर्भाव की समस्या से अपने आप ही जुड़ जाता है। प्रमाण सम्प्लव सिद्धांत द्वारा ज्ञानमीमांसा में एक ही विषय को भिन्न–भिन्न प्रमाणें के द्वारा जानने की स्वीकृति के फलस्वरूप भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या संबंधी मतभेदों को बल मिलता है, जबकि प्रमाण व्यवस्था के सिद्धांत के द्वारा प्रमाणों के अतार्किक विस्तार को समाप्त कर प्रमाणों की संख्या को सीमित करने का उपाय कर अनावश्यक अतिरेक्ता से बचने का प्रयास किया जाता है। किंतु प्रमाण व्यवस्था को सिद्धांत से जाने–अनजाने में प्रमाणान्तर्भाव की समस्या को सह (संबल) प्राप्त होता हुआ दिखलाई देता है। अतः प्रमाणान्तर्भाव के प्रसंग में प्रमाण व्यवस्था एवं प्रमाण संप्लव पर विचार करना अनिवार्य एवं आवश्यक है।

भारतीय दर्शन में प्रमाण संम्पलव और प्रमाण व्यवस्था का विवाद मुख्य रूप से प्रमाण–विनियोग की अवधारणा से संबंधित होने के कारण इसकी परिणति भी प्रमाणान्तर्भाव के रूप में ही प्रस्तुत होती है। प्रमाणों की संख्या एक से अधिक स्वीकार करने पर उनके विषय एवं क्षेत्र की विशिष्टता निर्धारण के लिए प्रमाण–विनियोग की अवधारणा का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। चार्वाक प्रभृति एकल–प्रमाणवादियों के लिए यह कोई समस्या ही नहीं है। प्रमाण–विनियोग की अवधारणा सुनिश्चित करने के लिए प्रमाणों के आपसी संबंध विषयक कुछ सामान्य प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। क्या प्रमाण एक दूसरे के क्षेत्र में क्रियाशील हो सकते हैं? क्या प्रमाणों के परस्पर सहयोग से ही विषय की सम्यक् उपलब्धि संभव होती है? इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में बौद्ध और बौद्धेतर नैयायिक दो खेमों में बँट जाते हैं। बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणों की परस्पर प्रयुक्ति अनुपपन्न है। इनके अनुसार कोई भी प्रमाण अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता है। प्रमाण अपने प्रातिस्विक रूप में विशिष्ट विषयक होते हैं। इसके विपरीत बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाण व्यवस्था को अनुभव विरोधी एक दोषपूर्ण दृष्टि मानते हैं। व्यवहार में एकाधिक प्रमेयों में एक ही प्रमाण की प्रवृत्ति और एकाधिक प्रमाणों से एक ही प्रमेय की उपलब्धि सुतरां प्रसिद्ध है। किन्तु बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि में प्रमाण व्यवस्था का प्रश्न प्रमाणों के विभाग में ही निहित होने के कारण यह प्रमाण विनियोग के लिए अपेक्षित एक सिद्धांत है। क्योंकि यदि प्रमाणों के विषय और क्षेत्र की परस्पर व्यावर्त्तक विशिष्टता स्वीकार ही नहीं की जाती तो उनके विभाग का प्रश्न आधारभूत नहीं रह जाता है।

बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाण–व्यवस्था कुछ विशेष रूप में रूपायित हुई है। इनके मत में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक द्विविध प्रमेय और तदनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान नामक द्विविध प्रमाणों को स्वीकार किया गया है प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है। स्वलक्षण और सामान्यलक्षण क्रमशः परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप में एक दूसरे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को व्यावृत्त करते हैं। स्वलक्षण वह सब कुछ है जो सामान्यलक्षण नहीं है। सामान्यलक्षण उन सबका निषेध है जो कि स्वरूपतः है। सत्ताविषयक यही व्यावृत्ति उनके प्रमाण विभाग और प्रमाण विनियोग में भी परिलक्षित होती है। साधारणतया बौद्ध सम्मत प्रमाण–व्यवस्था का यही स्वरूप है। किन्तु बौद्ध नैयायिकों ने इसकी एक सूक्ष्म व्यवस्था भी प्रस्तुत की है। बौद्धों के अनुसार वास्तव में स्वलक्षण ही एकमात्र प्रमेय है। एक ही परमार्थसत् स्वरूपेण स्वलक्षण और पररूपेण सामान्यलक्षण के रूप में अभिहित होता है।[19] इसलिए बौद्धन्याय में प्रत्येक प्रमाण के ग्राह्य एवं अध्यवसेय नामक द्विविध विषयों की व्यवस्था दी गई है।[20] क्षणिकवाद की पृष्ठभूमि में जिसका ग्रहण होता हो उसी का अध्यवसाय संभव नहीं है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में गृहीत स्वलक्षण सर्वथा अनभिलाप्य होता है। विकल्पों के माध्यम से स्वलक्षण अभिलाप्य होने की प्रक्रिया में सामान्यलक्षण बन जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय क्षणमात्र स्वलक्षण है, लेकिन उसका अध्यवसेय क्षण संतान मात्र सामान्यलक्षण होता है। इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्य लक्षण तथा अध्यवसेय स्वलक्षण ही माना गया है। इस प्रकार प्रमाणों के ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषय की दृष्टि से प्रमाण व्यवस्था की स्वीकृति बौद्ध नैयायिकों का विशेष अभिमत है।

नैयायिक बौद्धसम्मत प्रमाण व्यवस्था की ऐसी संरचना के प्रति विप्रतिषेधयुक्त होने का आक्षेप लगाते हैं। प्रो. ए.के. चटर्जी[21] के अनुसार प्रमाण व्यवस्था की अवधारणा सभी प्रकार के ज्ञानों को प्रत्यक्ष तथा अनुमान नामक द्विविध कोटियों में अन्तर्भूत कर देती है। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान और अनुमानात्मक ज्ञान अपने–अपने स्वरूप एवं विषय की दृष्टि से एक दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। ऐसा सिद्धांत जो परस्पर व्यावर्त्तक दो ही कोटियों को निर्धारित करता है, स्वयं को उन्हीं कोटियों में समायोजित नहीं कर सकता है। अतः प्रमाण–व्यवस्था को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाना जाय, यह संभव नहीं, क्योंकि यह एक साथ स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण से संबंधित सिद्धांत है। यह बौद्धमत में स्वीकृत प्रमाणों की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। इसके ज्ञान के लिए किसी तीसरे प्रमाण को स्वीकार किया जाय तो प्रमाण–व्यवस्था व्यवहत् होगी या तृतीय प्रमेय को विचार योजना में सम्मिलित करना पड़ेगा। दोनों ही बातें बौद्धाभिमत के विरूद्ध हैं। अतएव इस रूप में प्रमाण व्यवस्था का प्रस्ताव एक अधितार्किक अन्वेषण ही हो सकता है। यह अपनी गवेषणा के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को अपेक्षित करता है जो स्वलक्षण और सामान्यलक्षण को साथ–साथ जानता हो। इस स्थिति में बौद्ध नैयायिकों की विचार योजना में स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण को साथ–साथ जानना सामान्यजन की संज्ञानात्मक परिसीमा में असंभव है।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि 'प्रमाण व्यवस्था का ज्ञान किस प्रमाण से होता है'– इसका क्या अभिप्राय है? वास्तव में मूल प्रश्न यह है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि 'प्रमाण–यवस्था का आधार विषय द्वैविध्य है और विषय द्वैविध्य परस्पर व्यावृत्तिरूप है' यह ज्ञान कैसे होता है? यदि गह बताया जा सके तो प्रमाण–व्यवस्था की आनुभविक गवेषणा संभव हो सकती है। किन्तु प्रमाणों के द्वारा यह बताया जाना संभव ही नहीं, क्योंकि एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। क्योंकि स्वयं बौद्ध नैयायिकों को प्रमाणपूर्वक प्रमेयों के आपादान या सिद्धि का पक्ष स्वीकार्य भी नहीं है। क्योंकि 'मेयाधीना मानसिद्धिः' अर्थात् विषयद्वैविध्यपूर्वक प्रमाण द्वैविध्य का पक्ष उनका स्वाभिमत है। 'मानंद्विविधं विषयद्वैविध्यात्' वार्त्तिक में 'द्वैविध्यात्' पँचमी विभक्ति होने से उक्त आशय की ही पुष्टि होती है। पँचमी विभक्ति का प्रयोग यहाँ हेतुभाव में विवक्षित है। फलतः इसलिए बौद्ध नैयायिकों ने विषय द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को प्रमाणेन आपादित न कर 'द्वैराश्यभेद' के आधार पर प्रतिपादित किया है। क्योंकि हम अपने अनुभव में सर्वत्र द्वैविध्य पाते हैं।[22]

लेकिन द्वैराश्यभेदपूर्वक विषय–दैविध्य की उपस्थापना को यदि स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि द्विविध विषय के लिए दो ही प्रमाणों को मानना क्यों आवश्यक है? क्या विषय–द्वैविध्यपूर्वक एक प्रमाण या दो से अधिक प्रमाणों का विधान नहीं किया जा सकता? बौद्ध नैयायिकों के पक्ष से इसका उत्तर देते हुए कुछ इस प्रकार की बातें कही जा सकती हैं–(a) प्रमाणों का वर्गीकरण करने के लिए विषय के अतिरिक्त कोई अन्य समुचित आधार नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण प्रमेयमूलक ही हुआ करते हैं। अतः जब दो ही विषय हैं तो किस लिए तृतीय प्रमाण को स्वीकार किया जाय?[23] (b) प्रमेयद्वय के लिए प्रमाणद्वय ही न्यायोचित हैं। प्रमाणसम्प्लव संभव नहीं होने के कारण प्रमेयद्वय के लिए एक या दो से अधिक प्रमाणों का विधान सर्वथा असंगत है।[24] (c) प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद से प्रमेयों के द्विविध प्रकार हैं। परस्पर एक दूसरे के भेदक दो पदार्थों में तृतीय प्रकार की संभावना ही नहीं है। जो प्रत्यक्ष है वह परोक्ष नहीं और जो परोक्ष है वह प्रत्यक्ष नहीं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के अतिरिक्त तृतीय विषय का स्थान ही कहाँ है? तृतीय विषय की असत्ता का बोध भी प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। 'नील' इत्याकारक प्रत्यक्ष नील को नील के रूप में ही प्रकट करते हुए अनील का निराकरण भी करता है। नील संवित् में अनील का प्रतिभास नहीं होता है। नील ज्ञान प्रतिभास नील ही हुआ करता है। नीलेत्तर जो कुछ भी है वह अनील की कोटि में आता है। इस प्रकार जब तृतीय विषय ही नहीं तो तृतीय प्रमाण को अनावश्यक रूप से क्यों स्वीकार किय जाय?[25] (d) जब ज्ञान स्वगत में ही दो आकारों का बोध कराता है तो प्रमाण न एक और न दो से अधिक ही हो सकते हैं।[26] (e) प्रमाणविषयक प्रमाण मानना भी आवश्यक नहीं है। यह अनावश्यक रूप से अनवस्था को आमंत्रित करने वाला होगा। प्रामण का स्वरूप तो स्वसंवेदनाकार रूप से सिद्ध ही है।[27] (f) साक्षात् और परोक्ष प्रतिपत्ति के रूप में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष और अनुमान के अंतर्गत संभव सभी प्रमाणों का अंतर्भाव होने से भी प्रमाणद्वित्व ही न्यायोचित है।[28]

इस प्रकार बौद्ध नैयायिक विषय–द्वैविध्य और विषय–द्वैविध्य की परस्पर व्यावृत्तिरूपता पर आधारित प्रमाण–व्यवस्था की संरचना में अवांतर रूप से उठने वाली समस्याओं का स्पष्टीकरण देने का प्रयास करते हैं। किंतु उनके संपूर्ण प्रयास को आतमाश्रयदोष से ग्रसित कहा जा सकता है। द्वैराश्य–भेद के द्वारा विषय–द्वैविध्य की उपस्थापना और स्वसंवेदनपूर्वक उसका ज्ञापन मात्र तो संभव है, लेकिन इन सबके आधार पर विषय–द्वैविध्य का स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के रूप में ज्ञापित होना अनिवार्य नहीं है। यदि स्वसंवेदन की ऐसी व्याख्या की जाए, जहां स्वसामान्य लक्षणात्मक विषय–द्वैविध्य की परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप में संवित्ति संभव हो तो स्वसंवेदन के उस स्तर को बौद्धों की प्रमाणमीमांसीय योजना में संग्रहीत नहीं किया जा सकता है। अतः बौद्ध नैयायिकों की मूलभूत तत्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को किसी–न–किसी रूप में 'दिया हुआ' या 'प्रकाशित' ही होना चाहिए। इसे बुद्धदेशित परमार्थ और संवृति की चेतना से अनुप्राणित कहा जा सकता है। द्वैराश्य–भेद इत्यादि अवधारणाओं के द्वारा सामान्य अनुभव को एक विशेष तार्किक तंत्र में व्यवस्थित कर विषय–द्वित्व का आपादन अपनी तत्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को व्यावहारिक बुद्धि का संबल देने और प्रागुनभविक निश्चितता प्रदान करने का एक सराहनीय प्रयास ही है।

5. प्रमाण संप्लव और प्रमाणान्तर्भाव

न्यायदर्शन के दार्शनिक बौद्धेतर प्रमाण सम्प्लववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नामक चतुर्विध प्रमाण प्रसिद्ध हैं। पदार्थों की कोटि में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभावादि को परिगणित किया गया है। ये सभी पदार्थ समान रूप से सत् हैं और एक से अधिक प्रमाणों के द्वारा गम्य हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान की परिधि भी परस्पर व्यावर्त्तक नहीं है। बौद्धेतर अभिमत में प्रत्यक्ष की परिधि भी बहुत ही विस्तृत है। प्रत्यक्ष के द्वारा न केवल विशेष, जैसा कि बौद्ध मानते हैं, बल्कि समवाय और अभावादि पदार्थों को भी जाना जा सकता है। मीमांसक और वेदांत प्रभृति दार्शनिक भी न्यूनाधिक रूप में इन पदार्थों को स्वीकार करते हैं, लेकिन उनका प्रत्यक्ष एक विवाद का विषय रहा है। इसी प्रकार नैयायिकों का अनुमान भी बहुत व्यापक है। अनुमान के द्वारा सामान्य विशेषादि पदार्थों के अतिरिक्त अतीन्द्रिय सत्ताओं का भी ज्ञान होता है। आत्मा एवं ईश्वर आदि का अनुमान इसके उदाहरण हैं। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन[29] ने प्रमाणों के सम्प्लव क्रम को इस तहर निरूपित किया हैः कोई अग्नि को आप्तोपदेश से सुनकर हेतु दर्शन के द्वारा समझने की कोशिश करता है। जबकि कोई हेत्वाश्रित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुमान से समझकर उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता है। प्रत्यक्षतः देखकर उपलब्ध अर्थ मे जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती है। प्रत्यक्ष के द्वारा जिज्ञासित अर्थ की प्राप्ति होने के कारण वह जिज्ञासा का निवृत्तिकारक होता है। इस प्रकार प्रमाणों के विनियोग के ऊपरी ढाँचे में नैयायिक स्पष्ट तौर पर प्रमाणसम्प्लवादी ही प्रतीत होते हैं। यह बात अलग है कि प्रमाणों के स्वरूप निर्धारण और विनियोग में कतिपय सम्प्लव विरोधी प्रश्न एवं दृष्टान्त उनके मत के प्रति उपस्थापित किये जा सकते हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं कि सामान्य अनुभव के धरातल पर प्रमाणसम्प्लव का समर्थन किया जा सकता है। हम घट को चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के द्वारा जान सकते हैं। पर्वत पर उपस्थित अग्नि को अनुमान एवं प्रत्यक्ष दोनों प्रमाणों से जाना जाता है। यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण के घटक इन्द्रिय संवेदों का एक ही वस्तु के लिए परस्पर प्रयोग नितान्त भ्रामक प्रतीत होता है। क्या सचमुच चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के विषय की समानता यथोचित है? चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के द्वारा तो हम घट के रूप और कठोरता को ही जानते हैं। रूप और कठोरता ही घट की संपूर्ण सत्ता नहीं है। कुमारिल भट्ट ने इन्द्रियों की प्रवृत्ति के संबंध में सम्प्लव और व्यवस्था दोनों को स्वीकार किया है।[30] मूर्त द्रव्य का प्रत्यक्ष चक्षु और त्वक् दोनों इन्द्रियों से होता है। यह इन्द्रिय–साङ्कर्य का उदाहरण है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का प्रत्यक्ष तत्तद् इन्द्रियों के द्वारा क्रमशः एक–एक से होता है। यहाँ इन्द्रियों की प्रवृत्ति में स्पष्ट रूप से व्यवस्था दिखाई पड़ती है। वस्तुतः द्रव्य और गुण में भेद करते हुए गुणों को द्रव्याश्रित मानने वाले सभी बौद्धेतर दार्शनिकों को द्रव्य की दृष्टि से इन्द्रिय सम्प्लव और गुण की दृष्टि से इन्द्रिय व्यवस्था माननी ही चाहिए। नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष जातिविशिष्ट व्यक्ति को प्रकाशित करता है। मीमांसक भी थोड़े से अंतर के साथ ऐसा ही स्वीकार करते हैं। ज़ाति–व्यक्ति, द्रव्य–गुण में समवाय संबंध विवक्षित है। इसलिए सभी इन्द्रियों के द्वारा जाति–व्यक्ति युक्त घट के प्रत्यक्ष की व्याख्या हो जाती है।

न्याय दर्शन के दार्शनिक संबंध मात्र को वस्तुनिष्ठ आधार प्रदान करते हैं। उनके अनुसार सभी संबंध बाह्य होने के कारण वस्तुगत हैं। कुछ भी आत्मनिष्ठ नहीं है। यहाँ तक कि वस्तुज्ञान के साथ–साथ ज्ञान का ज्ञान भी एक बाह्य वस्तुनिष्ठ संबंध के सम्प्रत्यय पर आधारित माना गया है। अतः विभिन्न प्रकार के वस्तुगत संबंधों के ताने–बाने में बँधी सप्तपदार्थी तत्त्वमीमांसा ही वह आधार है जिससे प्रभावित होकर बौद्धेतर दार्शनिक भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रमाणों का सम्प्लव दिखाते हैं। लेकिन स्वतंत्र और प्रकार्यात्मक रूप में प्रमाणों का विनियोग भी सम्प्लववाद का समर्थन करे यह आवश्यक नहीं है।

प्रमाण–सम्प्लव की बौद्धेतर संरचना के प्रति कुछ और भी महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये जा सकते हैं। आखिर प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को मानने की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आवश्यकता ही क्या हैं? अर्थात् हम क्यों एक से अधिक प्रमाणों का व्यवहार करते हैं? यदि करें भी तो क्या परस्पर सम्प्लवित होने वाले प्रमाण एक दूसरे को व्यर्थ या अनावश्यक अतिरेक नहीं बनाते हैं? क्या प्रमाणों के विषय एवं क्षेत्र की पृथक्ता को निर्धारित किये बिना इस अनावश्यक अतिरेकता–प्रसक्ति से बचा जा सकता है? इसके उत्तर में नैयायिक यह कह सकते हैं कि सभी प्रमाणों में बलाबल का भेद होते हुए भी प्रत्येक का अपना–अपना महत्व है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्ष प्रमाणों की उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। परोक्ष प्रमाण व्यवहार की व्यापक सीमा को अवाप्त करते हैं। किसी सिद्धांत के निर्माण और सत्यापन में अनुमानादि परोक्ष–प्रमाण ही अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होते हैं। पुनः एक प्रमाण से ज्ञात वस्तु को दूसरे प्रमाण के द्वारा जानना व्यर्थ नहीं, क्योंकि एक ही वस्तु को विभिन्न प्रमाणों के द्वारा भिन्न–भिन्न रूप से जाना जाता है।[31] किन्तु नैयायिकों के लिए प्रत्यक्ष ही प्रधानप्रमिति क्यों है।[32] मीमांसक और वेदांती भी प्रत्यक्ष को उपजीव्य प्रमाण मानते हैं। यहां तब यह कहा जा सकता है कि प्रमाणों का पारस्परिक सम्प्लवन और प्रत्यक्ष की उपजीव्यता प्रत्येक्षतर प्रमाणों में अनावश्यक अतिरेकता को आंशिक रूप से प्रस्तावित अवश्य करता है। जबकि जबकि प्रमाण–व्यवस्था में प्रमाणों की प्रधानता और अप्रधानता का प्रश्न ही नहीं उठता।

वस्तुतः प्रमाणों के विनियोग को विषय की प्रातिस्विक, अवस्था–विशेष, के अधिशासन से मुक्त नहीं कहा जा सकता है। आखिर अवस्था विशेष पर कोई प्रमाण विशेष ही क्यों उपलब्ध होता है? सामने उपस्थित घट को हम प्रत्यक्ष से ही क्यों जानते हैं? क्यों नहीं इसके लिए हम प्रथमतया अनुमानादि को प्रयुक्त करते हैं? इसके लिए एक प्रतिबंधक की आवश्यकता है। यह प्रतिबंधक वस्तु की अवस्था विशेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। अतः विषयावस्था के सापेक्ष प्रमाणों की उपलब्धता और विनियोग दो प्रकार के निष्कर्षों को सामने लाती है। (1) यदि किसी वस्तु की अवस्था विशेष में कोई एक ही प्रकार का प्रमाण उपलब्ध और प्रयुक्त होता है तो अवस्था भेद से प्रमाण व्यवस्था की सिद्धि होती है। (2) यदि किसी वस्तु की अवस्था विशेष में एक से अधिक प्रकार के प्रमाणों की उपलब्धि और सभी की प्रयुक्ति मानी जाय तो अनावश्यक अतिरेकता–प्रसक्ति अनिवार्य हो जाती है।

प्रमाण सम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था के तत्त्वमीमांसीय उत्स को एक–दूसरे रूप में भी देखा जा सकता है। वैसे सभी दार्शनिक संप्रदाय, जिनमें सत्ता की मीमांसा द्विविध स्तरों पर की जाती है, उन्हें किसी न किसी रूप में अनुभवपूर्व अविद्या की सक्रिय भूमिका को स्वीकार करना पड़ता है। यथा–बौद्धों और अद्वैत वेदांतियों ने पारमार्थिक और व्यवहारिक रूप में सत्ता का द्वैधीकरण अपने–अपने ढंग से किया है। द्वैधीकृत सत्ता की तत्त्वमीमांसीय प्रकृति में भेद होते हुए भी तत्तद् दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में उसे समायोजित करने के लिए प्रमाणों का स्तरीकरण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आवश्यक हो जाता है। वास्तव में प्रमाण व्यवस्था सत्ता के द्वैधीकरण को प्रमाणों के स्तरीकरण में दिखाने का ही प्रमाणमीमांसीय प्रयास है। वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में अविद्या या विकल्प की प्रागनुभविक सक्रिय भूमिका को स्वीकार नहीं किया जाता है। नैयायिकों और मीमांसकों की दृष्टि में कुछ भी काल्पनिक रूप से संरचित नहीं है। यही कारण है कि वस्तुवादी दार्शनिक भ्रम और विभ्रमों को व्याख्यायित करने के लिए अन्यथाख्याति, अख्याति और विरीतख्याति जैसे सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं। इस रूप में प्रमाणसम्प्लव उनके लिए एक सहायक सिद्धांत बन जाता है।

अन्ततः प्रमाण सम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था की समस्या अपनी प्रकृति में तत्त्वमीमांसीय ही प्रतीत होती है। क्या बनाना है, इस बात को ध्यान में रखे बिना जैसे किसी औजार को नहीं बनाया जा सकता है, वैसे ही तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त प्रमाणमीमांसा भी संभव नहीं है। यह अधिशासन प्रमाणों के स्वरूप को निर्धारित करने के साथ–साथ प्रमाणों के विनियोग को भी अभिप्रेरित करता है। उदाहरण के लिए अधिकांश बौद्धेतर दार्शनिक निराकार ज्ञानवादी हैं। निराकार ज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान स्वयं में निराकर ही होता है और आकार वास्तव में बाह्य विषयों के होते हैं।[33] बुद्धि इन्हें यथावत् ग्रहण करती है। ज्ञान को निराकार मानने पर ज्ञानभेद के साथ–साथ वस्तुभेद मानना आवश्यक नहीं हैं। एक ही वस्तु प्रत्यक्ष और परोक्षादि विभिन्न माध्यमों से ज्ञान में भाषीय आकारों के साथ अनुविद्ध होकर निरूपित हो सकती है। इस प्रकार निराकार ज्ञानवाद में करणभेद से प्रत्यक्ष परोक्षादि प्रमाणभेद और प्रमाणों के सम्प्लवात्मक स्वरूप की व्याख्या हो जाती है। किन्तु सामान्य और विशेषीकृत व्यवहार की अनुमत सीमा में कहीं–कहीं व्यवस्थापरक प्रमाण विनियोग की आवश्यकता को भी नकारा नहीं जा सकता है। अतः बौद्धेतर तत्त्वमीमांसीय संरचना निराकार ज्ञानवादी दृष्टि से प्रमाणों को सम्प्लवात्मक स्वरूप तो प्रदान करती है किन्तु व्यवहार सम्मत प्रमाण विनियोग के लिए सम्प्लव और व्यवस्था दोनों का अनुमोदन करती है। जबकि बौद्ध नैयायिक साकार ज्ञानवादी हैं। साकार ज्ञानवाद के अनुसार ज्ञानगत आकार बाह्य वस्तुओं के द्वारा प्रक्षिप्त नहीं बल्कि ज्ञान में ही अर्न्तनिहित होते हैं। यही ज्ञानगत आकार तथाकथित बाह्य वस्तुओं का संपूर्ण सारांश है। बाह्यर्थवादी बौद्धों की ज्ञानमीमांसा सारूप्यवादी अथवा प्रतिभासवादी होने के कारण इसी विचार–कल्प में समायोजित हो जाती है। अतएव साकार ज्ञानवाद में ज्ञानभेद से वस्तुभेद आवश्यक रूप में विवक्षित होता है। ज्ञानभेद से पृथक् एवं परे वस्तुभेद की कोई भावस्थिति ही नहीं बनती है। इसलिए बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसीय संरचना में प्रमाणों का व्यवस्थापरक विनियोग आवश्यक हो जाता है। प्रमाणों का ऐसा स्वरूप उनके व्यवहार सम्मत विनियोग में भी कायम रहता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षात्मक रूप में कहा जा सकता है कि कोई भी प्रमाणमीमांसा अपने तत्त्वमीमांसीय संरक्षण में ही विकसित और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पल्लवित होती है। यही कारण है कि प्रमाणमीमांसा की अनुमत सीमा में उठने वाले अधिकांश प्रश्न अन्ततः तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही उद्घाटित करते हैं। प्रमाणसम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था का विवाद भी तत्त्वमीमांसीय लंगर से बंधी हुई समस्या है। यह बौद्धेतर वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा की उदारता है कि वह प्रमाणों की सम्प्लवात्मक प्रकृति को अनुमोदित करते हुए उनके व्यवस्थापरक विनियोग का विरोध नहीं करता है। वहीं बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसा का इतना कठोर अनुशासन है कि वह उन्हें प्रमाण व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार नहीं करने देता है। वस्तुतः तत्त्वमीमांसीय नियामकता में प्रमाणों का अपनी–अपनी प्रस्थिति और भूमिका में रूढ़ हो जाना उनकी नियति है। प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के अपने ही तर्क और प्रमाण होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि विभिन्न प्रकार के तत्त्वमीमांसीय अधिशासनों से युक्त भिन्न–भिन्न प्रमाणमीमांसीय योजनाओं के द्वारा हमारे लोकानुभव और व्यवहार को निर्देशित किया जाता है। हाँ, विभिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय योजनाएँ लोकानुभव और व्यवहार को ससम्मान विवेचित और व्याख्यायित करते हुए एक 'दृष्टिविशेष' से उसे संस्कारित तो अवश्य ही करती हैं।

6. प्रमाणान्तर्भाववाद एक तत्वमीमांसीय निष्पत्ति

भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाववाद के प्रसंग को दृष्टिगत रखते हुए जब हम भारतीय दर्शन का गहराई से अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि भारतीय दार्शनिक चिंतन का एक बहुत बड़ा भाग प्रमाणमीमांसीय चिंतन से सम्बद्ध है। प्रमाणमीमांसा के अधिकांश प्रश्न प्रमाणों के लक्षण, संख्या, विषय, फल एवं विनियोग से संबंधित माने जाते हैं। कुछ एक ऐसे भी प्रश्न हैं जिनका संबंध प्रमाणों के स्वरूप की आधारिक संरचना से होता है। प्रमाणों के विनियोगादि से भिन्न ऐसे प्रमाण–दार्शनिक प्रश्नों की विशिष्टता उनका आधारिक एवं मूलगामी प्रकृति का होना है। इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में इस तथ्य का उद्घाटन संभव हो पाता है कि कोई प्रमाण अपने स्वरूप एवं विनियोग में क्यों ऐसा ही है, अन्यथा क्यों नहीं है? दूसरे शब्दों में स्वीकृत प्रमाणों को उनके नेपथ्य में देखना संभव हो पाता है जहाँ वे निज प्रामाण्य को आवाप्त करते हैं। भारतीय दर्शन के इतिहास में 'मानाधीना मेयसिद्धिः' और 'मेयाधीना मानसिद्धिः' को प्रमाणान्तर्भाव से संबंधित ऐसे ही दो अधारभूत प्रश्नों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः ये दोनों प्रश्न अपनी प्रकृति में प्रस्थानमूलक हैं जो भारतीय दर्शन की दो भिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचना को प्रस्तावित करते हैं। दोनों प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचनाऐं, अपने–अपने तरीके से तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा के परस्परिक संबंध को व्याख्यायित करते हुए प्रमाणान्तर्भाव की प्रस्थिति एवं भूमिका को निर्धारित करती हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रमाणविषयक अनेकानेक विवाद सर्वविदित हैं। यदि प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थ होती तो प्रमाणों के संबंध में इस प्रकार का विवाद नहीं होना चाहिए था। ऐसी स्थिति में प्रमाणों का सर्वथा निर्दुष्ट मानदण्ड अथवा उनका कोई सर्वस्वीकृत आदर्श स्वरूप स्वीकार किया जा सकता था। इस पर भी किसी को आपत्ति नहीं होती कि ऐसे प्रमाण समस्याओं के सर्वमान्य समाधान का सामर्थ्य रखते हैं या नहीं! परंतु ऐसा न कभी हुआ और न होगा। दार्शनिकों के मध्य प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय और फल को लेकर असमझौतापूर्ण मतभेद रहे हैं और आगे भी वैसे ही रहेंगे। ऐसे मतभेद इस तथ्य को आवश्यक रूप से उद्घाटित करते हैं कि प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका तात्त्विक विवक्षा में तटस्थ नहीं है, जैसा कि 'प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि' के समर्थक इन्हें स्वीकार करते हैं।

भारतीय दर्शन में, विशेषकर आस्तिक परंपरा के प्रायः सभी दर्शन, इस बात को सर्वतंत्र–स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में स्वीकार करते हैं कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से होती है। वस्तुत : चेतना के अपकर्ष और उत्कर्ष भेद के साथ न्यूनाधिक रूप में प्रमाणवृत्ति प्राणिमात्र में पायी जाती है लेकिन मानवीय स्तर पर इसका स्वचेतन व्यापार होना इसकी मौलिक विशिष्टता है। इसी के चलते मानवमात्र में प्रमा के अन्वेषण और अप्रमा के निवारण की चेष्टा आद्यन्त रूप से दृष्टिगोचर होती है। अतएव प्रमेयावगाहन के प्रति प्रमाणवृत्ति की प्राथमिकता इस दृष्टि से स्वाभाविक ही है। परंतु इस विचार को –विमर्श के एक दूसरे धरातल पर भी देखा जा सकता है। वह यह है कि जब हम इस अभ्युपगम पर एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में विचार करते हैं तो प्रकृत प्रश्न का पूरा कलेवर ही बदल जाता है। दूसरे शब्दों में ज्ञातृत्व की तत्त्वमीमांसीय प्राग्पेच्छाओं के सापेक्ष जब तंत्र केन्द्रित मानवीय प्रमाणवृत्ति वैकल्पिक प्रारूपों में तंत्रबद्ध होती है, अर्थात् प्रमाणवृत्ति जब एक विचार संस्थान का रूप धारण करती है तो वह प्रमेयावगाहन के प्रति अपनी प्राथमिकता के दावे को एक तरह से न्यौछावर करते हुए तत्त्वमीमांसीय आश्रयता में ही अपने विशिष्ट स्वरूप का प्रकाशन करती है। इस पर यह कहा जाना कि ज्ञान की दृष्टि से 'प्रमाण' प्रथम और 'प्रमेय' तदनन्तर तथा सत्ता की दृष्टि से 'प्रमेय' प्रथम और 'प्रमाण' तदनन्तर भावी होते हैं, अत्यंत साधारण दृष्टिकोण है।[34] वस्तुतः प्रमाण–प्रमेय के पूर्वापरभाव का निर्धारण उतना सरल नहीं जितना कि ऊपरी तौर पर समझा जाता है। अन्ततः यह प्रश्न प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के गौण–प्रधान भाव और एक दूसरे पर प्रभावमत्ता की व्यापक अवधारणात्मक योजना में पर्यवसित हो जाता है।

वस्तुतः वस्त्वावधारण की सिद्धि के लिए उससे निरपेक्ष रहकर प्रमाणों का अन्वेषण ठीक वैसा ही है जैसे क्या बनाना है, इसका ध्यान रखे बिना औजार की रचना करना। अतः प्रमाण जो साक्ष्य जुटाता है वह साक्ष्य भी प्रमेय के स्वरूप को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्यान में रखकर ही संभव है। इसलिए वस्तुस्थिति तो यह है कि जो लोग प्रमाणों के द्वारा प्रमेय की सिद्धि करते हैं वे भी प्रमाण के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए प्रमेय के स्वरूपा–वधारण को पूर्वकल्पित किये रहते हैं जिनकी देख–रेख में प्रमाणों का विनियोग और उनकी सम्पादनात्मकता चरितार्थ होती है। " प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि होती है" अतएव ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा का पूर्वगामी है –यह सामान्य अनुभव और सामान्यजन की विचार–सरणी है। सामानय अनुभव के धरातल पर जहाँ एक दूसरे से असहमत होने क लिए अवकाश ही नहीं वहाँ प्रमाण की दार्शनिक जिज्ञासा भी नहीं होती है। किंतु जब हम प्रमाणों पर एक दार्शनिक दृष्टि से प्रश्न उठाते हैं तो प्रमाणमीमांसा के मुखौटे पर सर्वत्र तत्त्वमीमांसा के भूत की छाया ही दिखती है। यह पूछा जा सकता है कि जहाँ तक प्रमाणों के भाव से प्रमेयों के विधान का प्रश्न है तो इसे एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है परंतु प्रमाणों का अभाव क्या प्रमेयाभाव का हेतु हो सकता है? प्रमाणाभाव अधिक से अधिक प्रमेय विषयक संदेह को ही सूचित करता है।[35] ऐसा संदेह न तो अभाव है न ही अपर्याप्त भाव, बल्कि प्रमाणों की सीमा है जो प्रमेय की व्यापकता और प्रमाण की व्याप्यता को प्रदर्शित करता है। प्रमेयों की व्यापकता को स्वीकार करते हुए 'मानाधीनामेयसिद्धिः' सिद्धांतानुसार प्रमेयान्वेषण या तो अपर्याप्त होगा, या फिर प्रमाणातिक्रामी तात्त्विक जिज्ञासा की पूर्ति के लिए प्रमाणमीमांसा को अतार्किक विस्तार देना होगा, या फिर किसी उच्चस्तरीय गुह्य प्रमाण स्रोत को प्रमाणमीमांसा में सम्मिलित करना पड़ेगा। ये सभी बातें 'मानाधीनामेयसिद्धिः' मानने वाले दार्शनिकों की प्रमाणमीमांसा को अभिमत तत्त्वमीमांसा के अनुरूप बनाने के लिए ही तो किया जाता है। बौद्धेतर प्रमाणमीमांसा का ऐसा अतार्किक विस्तार प्रत्यक्ष के अलौकिक आयाम, जाति अर्थात् गोत्वादि का प्रत्यक्ष एवं अनुपलब्धि के द्वारा अभाव को पदार्थ मानने इत्यादि संदर्भो में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यही कारण है कि नैयायिक अपने प्रमाण–सिद्धांत को करणोपकरणपूर्वक व्याख्यायित करते हैं।

यदि हम नास्तिक दर्शनों का नेतृत्व करने वाले बौद्ध दर्शन की प्रमाणमीमांसा में तत्वमीमांसीय मान्यताओं के अधिभार पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि बुद्ध की संपूर्ण शिक्षाएं परमार्थ और संवृति–सत् के भेद पर आधारित हैं।[36] तथागत की सर्वज्ञता में सत्यद्वय का यह भेद युगपद रूप से प्रकाशित होता है, जो सामान्य जन के लिए लब्ध नहीं है। बौद्ध परंपरा में यह तथागत की तत्वमीमांसीय आवश्यकता के रूप में व्याख्येय है।[37] बौद्ध नैयायिक भगवान बुद्ध को परम प्रमाणभूत स्वीकार करते हुए तथागत की इस भूमिका को सुरक्षित रखते हैं। अतएव स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण रूप प्रमेय–द्वैविध्य की प्रमाण–निरपेक्ष प्राक्कल्पना को बुद्धदेशित परमार्थ एवं संवृति के रूप में स्व–सामान्यलक्षणात्मक प्रमेय–द्वैविध्य को इस तरह आगममूलक अथवा प्रकाशित अंतर्दृष्टि मानने में कोई विरोध नहीं, बल्कि बड़ा लाघव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। यहां बुद्ध की भावनामयी प्रज्ञा से प्रसूत करुणामयी देशना का आगम–प्रमाण के रूप में विनियोग करते हुए प्रमाण–त्रैविध्य का विरोध प्रसंग भी उपस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक ओर इसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों की कोटि में नियोजित करना कोई आवश्यकता बाध्यता नहीं है तो दूसरी ओर बौद्ध परंपरा में आगम का अनुप्रयोग परार्थानुमान रूप से अर्थात् हेतुवचन के रूप में हुआ है। ध्यातत्व है कि ब्राह्मण एवं बौद्ध परंपरा में शब्द–प्रमाण की प्रकृति को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं, फिर भी इसे सर्वत्र एक उच्च स्तरीय प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इसे भारतीय समाजवाद का निगूढ़ार्थ स्वीकार करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि यहां प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रसक्ति शब्द प्रमाण–प्रदत्त परिसीमा में ही होती है। इसके बावजूद यदि बौद्ध नैयायिक 'व्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद' की अवधारणा कर प्रमेय द्वैविध्य को प्रमाण–निरपेक्ष रूप से आपादित करने का प्रयास करते हैं तो उनका यह प्रयास अपनी अधितार्किक तात्विक पूर्व मान्यता को व्यावहारिक एवं विश्लेषणात्मक बुद्धि से निष्पादित करने का महत्वपूर्ण उपाय कौशल ही तो है।

अवधेय है कि भारतीय दार्शनिक अपने–अपने प्रमाणमीमांसीय चिंतन के लोक–सम्मत होने का दावा तो करते हैं लेकिन क्या इस दावे को तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थ कहा जा सकता है? वास्तव में देखा जाये तो अपनी–अपनी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से लोकानुभव को संस्कारित करते हुए उसी तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता में लोकानुभव की व्याख्या करना उनका स्वीकार्य पक्ष प्रतीत होता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में प्रमाण की अवधारणा (स्वरूप, संख्या, विषय, विनियोग) पर सर्वत्र तत्त्वमीमांसीय अधिशासन की छाया दिखाई देती है। भारतीय दर्शनोंका प्रमाणमीमांसीय पक्ष वाकोवाक्यमवादविधि, आन्वीक्षिकी विद्या, हेतु विद्या के रूप में जैसे–जैसे विकसित होता गया[38] वैसे–वैसे उस पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार बढ़ता ही गया है। इसके विपरीत कुछ लोगों का यह मानना है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन का इतिहास तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता से मुक्त होने की दिशा में विकासोन्मुख रहा है। परंतु यह दृष्टि मुझे उचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि वास्तवक में दर्शन के किसी संप्रदाय विशेष में जिस प्रकार से हम प्रमाणों का विनियोग प्राप्त करते हैं, उस पर गंभीरता से विचार करने पर प्रमाण उस दर्शन की तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पनाओं के 'पैराफ्रेज' ही ठहरते हैं, किंतु आश्चर्य है कि उस दर्शन में स्वीकृत प्रमाण उस दर्शन की तत्वमीमांसीय प्राक्कल्पना पर निर्भर करते हैं और स्वयं के लिए उससे पूर्ववर्ती होने का दावा भी करते हैं। अतएव यह कि प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि होती है, इस अभ्युपगम के प्रति प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका को तटस्थ नहीं कहा जा सकता।

इस स्थिति में भारतीय. दर्शन में प्रमाणमीमांसीय चिंतन के स्वरूप से संबंधित यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थापित होता है कि प्रमाणमीमांसा के आधारभूत प्रश्नों और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निष्कर्षों में जो भेद और वैकल्पिकता दिखाई पड़ती है, उसे किस प्रकार समझा जाय? क्योंकि इन भेदों की प्रकृति न तो आनुभाविक है और न ही उन्हें उनसे संबंधित प्रश्नों की तार्किक संरचना की सीमा में ही समझा जा सकता है। कारण ऊपर से देखने पर किसी प्रमाणमीमांसा की वैकल्पिकता और उसके भेदपूर्ण निहितार्थ दृष्टिगत भी नहीं होते, क्योंकि दृष्टिकोणों की वैकल्पिकता वास्तव में तुलनात्मक चेतना में प्रतिफलित होती है। परंतु दो या दो से अधिक दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिंतन के आधारभूत मतभेदों को जब मूलगामी रूप से समझने का प्रयास किया जाता है तो हमें उनके नेपथ्य में झाँकना पड़ता है और तब वहाँ सारे मतभेदों का पर्यवसान वैकल्पिक तत्त्वमीमांसीय पूर्वाग्रह में होता है। क्योंकि कोई भी प्रमाणमीमांसा अपने विकसित रूप में अवश्य ही कुछ ऐसे तत्त्वों और तज्जन्य प्रभावों को अन्तर्गृहीत किये रहती है जिनकी व्याख्या प्रमाणमीमांसीय उपकरणों और उनके बनावट की ऊपरी ढाँचे में आनुभविक रूप से संभव नहीं होती। वास्तव में ऐसे तत्त्वों और तज्जन्य प्रभावों की प्रकृति अधितार्किक और अधिप्रमाणमीमांसीय होती है। कोई भी प्रमाणमीमांसा इस प्रकार के अधितार्किक और अधिप्रमाणमीमांसीय प्रभावों को अनिवार्यतः अपने तत्त्वमीमांसीय स्रोतों से अवाप्त कर उन्हें आत्मसात् करती है और इस तरह अपने विशिष्ट स्वरूप को अधिकाधिक सुसंगत रूप में प्रतिष्थापित करती है।

संक्षेप में हमारा अभिप्राय यह है कि प्रमाणमीमांसा को तत्त्वमीमांसा से वियुक्त नहीं किया जा सकता। यदि हम कोई तात्त्विक पूर्वकल्पना नहीं कर लेते हैं तो हम अपने ज्ञान का विश्लेषण करना भी नहीं ज़ानते हैं। संपूर्ण प्रमाण व्यापार की एक तात्त्विक पृष्टभूमि होती है। हम इसी से आरंभ करते हैं और इसी में लौट आते हैं। हम अपने प्रमाण–सिद्धांत के द्वारा लोकानुभव और लोकप्रतीति को व्यवस्थित एवं ससम्मान व्याख्यायित करते हुए उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचते हैं जो हमारी तत्त्वमीमांसा के अनुकूल होते हैं। भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रमाणमीमांसा की इस नियति को बौद्ध नैयायिकों ने स्पष्टतया स्वीकार किया है जबकि बौद्धेत्तर प्रमाणशास्त्रीय चिंतन का प्रतिनिधित्व करते हुए नैयायिक इस तथ्यात्मकता को स्वीकार करने में संकोच करते हैं। यद्यपि संपूर्ण भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन में वैकल्पिक दृष्टियों और तत्संबंधी निर्धारणों की तंत्रकेन्द्रित प्रतिबद्धता का प्रत्यकशः विश्लेषण एवं तुलना करते हुए उन्हें उनकी तत्त्वमीमांसा में खोला जा सकता है। वस्तुतः किसी प्रमाण–मीमांसा का विश्लेषण और तुलना के द्वारा उसे उसकी तत्त्वमीमांसा में खोलना एक प्रमाणदार्शनिक किया है, जिसका पद्धतिमूलक पक्ष अधिप्रमाणमीमांसीय विश्लेषण होता है। अधिप्रमाण–मीमांसीय विश्लेषण को प्रमाणमीमांसा की वैकल्पिक दृष्टियों के मध्य वैकल्पिकता के द्वंद्व में चरितार्थ होने वाला एक उच्चस्तरीय प्रतिवर्ति चिंतन से अभिहित किया जा सकता है। इसे तुलनात्मक दर्शन का एक कल्प विशेष भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहना अनुचित नहीं होगा जो तुलनात्मक प्रमाणमीमांसा के रूप में फलीभूत होता है। तुलनात्मक चेतना वैकल्पिकता के द्वंद्व की एक पृष्ठभावी क्रिया होती है और इसके फलस्वरूप वैकल्पिक दृष्टियों की निजता, उनकी प्रातिस्विकता पहचानी जाती है कि कोई विकल्प ऐसा ही क्यों है, क्यों नहीं अन्यथा है। यह प्रतिवर्ति चिंतन अथवा विमर्शात्मक चेतना की अपेक्षाकृत एक उच्च अवस्था होती, जहां दृष्टियों की प्रातिस्विकता के निर्धारक घटकों के प्रकटीकरण संभव हो पाता है।

वस्तुतः एक अर्थ में प्रमाणमीमांसा अनुभव का व्याकरण जैसा है। जिस प्रकार भाषा व्याकरणमूलक नहीं वरन् व्याकरण ही भाषामूलक है, उसी प्रकार अनुभव प्रमाणमूलक नहीं वरन प्रमाण ही अनुभवमूलक है। इसलिए प्रमाणमीमांसा को अनुभव के पूर्व ही अनुभव के प्रस्तुतीकरण के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए। आनुभाविक उपलब्धियों के नियमन की 'अनुवीक्षा' ही प्रमाणमीमांसा है। इस अनुवीक्षा में आवश्यक रूप से तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता जाने–अनजाने प्रविष्ट रहती है, जो प्रमाणमीमांसीय अनुवीक्षा को गति प्रदान करती हैं। आखिर विभिन्न दर्शनों की प्रमाणमीमांसा में भेद क्यों होता है? वह किसी भी तरके से प्राप्त तात्त्विक दृष्टिकोण से होता है, जो हमारे प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों एवं निष्कर्षों में भेद लाता है। यह तात्त्विक दृष्टिकोण सर्वथा सुस्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं होता, परंतु हमारी समस्त विचारणा की पृष्ठभूमि में रहता है और उसे निर्धारित करता है। निःसंदेह वह हमारे प्रमाणमीमांसीय विश्लेषण और तर्कणा की पूर्ववर्ती होता है। यदि तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता से रहित प्रमाणमीमांसा संभव हो तो वैकल्पिक प्रमाणमीमांसा की कोई संभावना नहीं बनेगी। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में काण्ट ने ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा से अछूता रखने के प्रयास में 'स्वलक्षण वस्तु' (थिंग इन इट्सेल्फ) को सर्वथा अज्ञेय कहकर रहस्य बना दिया जबकि वह अज्ञेय रहकर भी उसकी संपूर्ण ज्ञानमीमांसा को गति प्रदान करती है।

वस्तुतः संपूर्ण ज्ञानमीमांसा की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। रिक्त विश्व में कोई ज्ञानमीमांसा संभव नहीं। तात्त्विक पूर्वकल्पना को अपनाए बगैर हम अपने ज्ञान का विश्लेषण और प्रमाणों का विनियोजन करना भी नहीं जान सकते हैं। हम इसी से आरंभ करते हैं और इसी में हमें लौटना होता है। आरंभ करने के लिए तात्त्विक प्राक्कल्पना को प्रमाणमीमांसा की नींव पर रखना होता है। लौटने के लिए बुद्धि द्वारा बुद्धि की समीक्षा ही एकमात्र रास्ता है। अंतःप्रज्ञा की अभिव्यक्ति सदैव अस्पष्ट होती है। इसके अनुवाद में व्याख्यान्तर की संभावना सदैव बनी रहती है। अतएव इस ऊहापोह से बचने के लिए तात्त्विक प्राक्कल्पना को एक ठोस बौद्धिक आधार प्रदान करने के लिए व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभाविक उपलब्धियों के प्रकार विषयक एक अवधारणा को निश्चित करना होता है। तत्पश्चात् ज्ञान की उन अवस्थाओं, स्रोतों एवं उनकी विशेषताओं का निरीक्षण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करना होता है, जिसमें आनुभविक उपलब्धियों में आकारित होने वाला यथार्थता के प्रकार अथवा कोटियों को व्यवस्थित किया जा सके। बौद्ध नैयायिकों की द्वैराश्यभेद विषयक अवधारणा व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धियों में आचरित तात्त्विक कोटि–निर्धारण का ऐसा ही अभ्युपगम है। इसी के द्वारा वे प्रमेय–द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पना को उपस्थापित करते हैं। यह सामान्य अर्थ में प्रमाणमूलक नहीं, बल्कि एक विशेष अर्थ में इसे अधितार्किक आधार से अभिहित किया जा सकता है।

अंततः निसंदेह हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि किसी भी विकसित प्रमाणमीमांसा में कुछ ऐसे तत्व आवश्यक रूप से सम्मिलित होते हैं, जिनकी व्याख्या प्रमाणमीमांसा के ऊपरी धरातल पर और उस प्रमाणमीमांसा के स्वीकृत उपकरणों की सीमा में नहीं की जा सकती। हमें ऐसे तत्त्वों अथवा समस्याओं की व्याख्या के लिए उस सीमा से बाहर जाना पड़ता है, क्योंकि ऐसे तत्त्व, वास्तव में, अपनी प्रकृति में 'अधिप्रमाणमीमांसीय' होते हैं। कोई प्रमाणमीमांसा अपने में ऐसे अधिप्रमाणमीमांसीय तत्त्वों को अक्सर तत्त्वमीमांसीय आयाम से आयातित कर लेती है। एक विशेष प्रकार का तत्त्वमीमांसीय पूर्वाग्रह ही वह अभ्युपगम है जो विशेष प्रकार के प्रमाणों की प्रतिस्वीकृति को अधिशासित करता है। यदि यह प्राक्कल्पना सही है तो इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि किसी दर्शन विशेष की प्रमाणमीमांसीय योजना में तत्त्वमीमांसीय भेद ही परिलक्षित होते हैं। यह बात भारतीय दर्शन के प्रमाणमीमांसीय चिंतन में निर्विवाद रूप से प्रतिपादित होते हुए देखी जा सकती है। इस संबंध में यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि प्रमाणमीमांसा से संबंधित अधिकांश प्रकरणों पर भारतीय दार्शनिक संप्रदायों द्वारा जिस तरह से विचार किया गया है उसके माध्यम से उन–उन दर्शनों के तत्त्वमीमांसीय भेदों का ही पुनरावर्तन हुआ है। भारतीय दर्शन में इस प्रवृत्ति का विस्तार न केवल प्रमाणमीमांसा तक बल्कि भ्रम विषयक सिद्धांतों एंव भाषा–दर्शन और उससे आगे तर्कशास्त्रीय प्रकार के चिंतन तक भी देखा जा सकता है।

वस्तुतः मानवीय अनुभव अपनी समग्रता में एक तत्त्वमीमांसा को पूर्वगृहीत किये रहती है। इस तात्त्विक पूर्वाग्रह के प्रति जब हम ज्ञानमीमांसीय उपक्रम के द्वारा आत्मचेतन होते हैं तो विदित होता है कि पूर्वग्रहीत तत्त्वमीमांसा हमारे लोकानुभव को आदेशित नहीं करती बल्कि उसकी सम्यक् व्याख्या के लिए उच्चतर आधार प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि प्रत्येक दार्शनिक तंत्रों की ज्ञानमीमांसा में उस–उस तंत्र के तत्त्वमीमांसीय प्रस्थापनाओं के गहरे संदर्भ–संकेत प्राप्त होते हैं। ऐसे संदर्भो को तत्तद् दर्शनों में स्वीकृत प्रमाणों के अंतर्गत परिलक्षित होना ही उन तंत्रों की प्रमाणमीमांसीय अनुवीक्षा को विशिष्ट और पुष्ट बनाता है। यदि स्वीकृत प्रमाण इस अपेक्षा को पूरा नहीं करते हैं तो उनकी स्वरूप–हानि होती है। प्रमाणों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का एक महत्त्वपूर्ण आयाम उनकी व्यावहारिक सार्थकता भी है। इस व्यावहारिक सार्थकता को प्रमाणों के स्वरूप की अपेक्षा उनके विशिष्ट साधनत्व से अधिक लेना–देना होता है। परंतु तात्त्विक अभ्युपगम की विरोधी व्यवहारिक सार्थकता और साधनत्व भी प्रमाणों के लिए सर्वांशतः उपादेय नहीं होती। अन्ततः प्रमाणों की व्यावहारिक सार्थकता, उनका साधनत्व एवं संख्या का विचार भी तात्त्विक रूप से स्वीकृत प्रस्थापनाओं अथवा प्रमेयों के प्रकाशन में ही पुरस्कृत हो पाता है। यदि व्यावहारिक अधिशासन् को प्राथमिकता होते हुए एक ही प्रमाण से अनेक विध प्रमेयों का ज्ञापन स्वीकार किया जाये तो प्रमाणलक्षण का अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित हो जाने की संभावना सदैव बनी रहती है। दूसरी ओर अनेक प्रमाणों से एक ही प्रमेय का प्रकाशन स्वीकार करने पर प्रमाण विनियोग में अनावश्यक अतिरेकता आसन्न हो जाती है। इसलिए किसी भी प्रमाणमीमांसा के लिए उसके तात्त्विक अभ्युपगम में ही प्रमाणसंख्या का विचार भी उचित प्रतीत होता है।

इसमें दो राय नहीं कि तत्त्वमीमांसा प्रमाणों के स्वरूप एवं विनियोग को निर्धारित करने के साथ–साथ प्रमाणसंख्या को भी निर्देशित करती है। परंतु कोई किस प्रकार की तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करता है, यह उसके गोत्र या सपूंर्ण बौद्धिकता से संबंधित प्रश्न है। तभी तो तत्त्वमीमांसीय संरचना की भिन्नता को स्वीकार करने के साथ ही भिन्न–भिन्न प्रमाणभीमांसीय ढाँचे और उस ढाँचे में प्रमाणों के भिन्न–भिन्न प्रकार और संख्याओं की स्वीकृति भारतीय दर्शनों में आपत्तिजनक नहीं रह जाती है। वस्तुतः प्रमाणमीमांसा को अनुवीक्षा के रूप में स्वीकार कर लेने के पश्चात् कोई भी प्रमाणमीमांसीय निष्पत्ति तात्त्विक अधिशासन से मुक्त नहीं हो सकती है। यद्यपि प्रमाणान्तर्भाव का प्रश्न तो प्रमाणों के सम्प्लवात्मक प्रकृति का विरोधी पक्ष है और यह प्रमाण व्यवस्था का सह पाकर लाघव को प्राप्त होता है। लेकिन भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाव के विचार को जिस रूप में चरितार्थ किया गया है उसे तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त नहीं कहा जा सकता है।

भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या विषयक विप्रतिपत्ति का इतिहास बहुत लंबा है। इस प्रकार की मतवैभिन्यात्मक पृष्ठभूमि में संपूर्ण भारतीय प्रमाणमीमांसा के लिए प्रमाणान्तर्भाव आवश्यक हो जाता है। फलतः सभी संप्रदाय अपने मत में स्वीकृत प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव दिखाकर स्वमत को पुष्ट करते हैं। यहाँ बौद्ध और बौद्धेतर प्रमाणान्तर्भाव में एक विशेष प्रकार का भेद परिलक्षित होता है। बौद्धेतर प्रमाणान्तर्भाव प्रमाण सम्प्लव का विरोधी नहीं है। वस्तुतः प्रमाण सम्प्लव को स्वीकार करते हुए प्रमाणान्तर्भाव दिखाना किसी प्रमाणमीमांसीय संरचना को अस्वीकार करना नहीं है। लेकिन बौद्ध प्रमाण सम्प्लव के सर्वथा विरोधी हैं। बौद्ध नैयायिक प्रमाणों का अन्तर्भाव दिखाते हुए प्रमेयों का भी अन्तर्भाव कर देते हैं। इस तरह प्रमाण व्यवस्थावादी प्रमाणान्तर्भाव अन्ततः किसी भी वैकल्पिक प्रमाणमीमांसीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संरचना की अस्वीकृति में पर्यवसित हो जाता है। लेकिन यह भी सत्य है बौद्धों द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमान में किया गया सभी प्रमाणों का अंतर्भाव प्रमाणमीमांसा के अतार्किक विस्तार को निरस्त करते हुए एक सुदृढ़ प्रमाणमीमांसीय ढांचे को प्रस्तावित करता है। इस समीक्षा से यह भी निगमित होता है कि वास्तव में जब यह कह जाता है कि 'प्रमा' का करण ही 'प्रमाण' है तो कहा यह जाना चाहिए कि प्रत्येक प्रमाण अपनी निजता में इस रूप में प्रमा का कारण है, जिसका अंतर्भाव किसी दूसरे प्रमाण में नहीं किया जा सकता। अतएव प्रमाणांतर्भाव प्रकरण पर विचार वस्तुतः प्रमाणों के अनन्तर्भाव्य स्वरूप की खोज है। इसमें कोई दो राय नहीं कि बौद्ध एवं बौद्धेतर नैयायिकों का प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण एक तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसीय निष्पत्ति है। यह भी सही है कि किसी भी प्रकार की प्रमाणमीमांसा एक विशेष तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से न्यूनाधिकरूप में अधिशासित होती ही है।

भारतीय दर्शन में पाए जाने वाले प्रमाणान्तर्भाववाद के मूल में निहित भारतीय दर्शनों की तात्विक मान्यताओं के पिष्टपेषण की इस बाध्यता को उजागर करते हुए प्रोफेसर अंबिकादत्त शर्मा जी ने भी 'बौद्ध प्रमाण दर्शन' नामक अपने ग्रंथ में लिखा है कि "भारतीय दार्शनिक चिंतन की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी तंत्रबद्धता और प्रतितंत्र के प्रति सहिष्णुता रही हैं। यहां पर आरंभ से ही विभिन्न प्रकार के दार्शनिक संप्रदायों का अस्तित्व रहा है, जो अपने कुछ आधारभूत एवं मूलगामी मान्यताओं के साथ विकास के स्वकीय प्रारूप में विकसित होते रहे हैं। विकास की ऐसी बहुध्रुवीय लेकिन तंत्रकेंद्रित गतिशीलता में भारतीय दर्शनों की विकासमानता ऊपर से दिखाई नहीं पड़ती। इसी कारण कुछ लोग इसे स्थावर हो गई परंपरा मान बैठते हैं। वास्तविकता जबकि यह है कि सूत्र, भाष्य वार्त्तिक, टीका एवं प्रकरणादि ग्रंथों के माध्यम से भारतीय परंपरा में व्याख्याओं, पुर्नव्याख्याओं, यहां तक कि वैकल्पिक दृष्टियों के विकास की अंतर्धारा युक्तिमत रूप से अनवरत बर्द्धमान रही है। ब्राह्मण और बौद्ध विचारधारा के मध्य एक हजार से अधिक वर्षों का वैचारिक संघर्ष इसका ज्वलंत उदाहरण है। सत् विषयक दो भिन्न प्रकार की तत्वमीमांसीय दृष्टि[39] का प्रतिनिधित्व करती हुई दोनों परंपराएं आरंभ से ही न केवल एक–दूसरे के विरोध में पनपती रहीं, बल्कि परस्पर एक–दूसरे को विकास एवं परिष्कार की नई–नई प्रेरणाएं भी प्रदान की हैं।"

निःसंदेह हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि बौद्धेत्तर दर्शनों (आस्तिक दर्शनों) की ज्ञान मीमांसा में पाए जाने वाले प्रमाणसंप्लवात्मक प्रमाणान्तर्भाववाद एवं बौद्ध दर्शन (तथाकथित नास्तिक दर्शनों) में पाए जाने वाले प्रमाण व्यवस्थावादी प्रमाणान्तर्भाववाद के रूप में दिखलाई देने वाले भेद वस्तुतः ज्ञानमीमांसीय भेद नहीं बल्कि तत्वमीमांसीय भेद हैं। क्योंकि आखिरकार किसी भी दर्शन या दार्शनिक संप्रदाय की ज्ञानमीमांसा इस बात के लिए बाध्य होती ही है कि वह उस दर्शन या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक संप्रदाय द्वारा स्वीकृत तात्विक मान्यताओं की प्रामाणिकता को सिद्ध करे। फलतः विभिन्न दार्शनिकों एवं दार्शनिक विचारधाराओं द्वारा अपनी–अपनी तात्त्विक मान्यताओं की सिद्धि के प्रयास के चलते भारतीय दर्शन में प्रमाणान्तर्भाववाद की समस्या उत्पन्न होना वस्तुतः एक स्वाभाविक तत्वमीमांसीय निष्पत्ति है।

संदर्भ

1. मानसोल्लास, अध्याय 2/20
2. वही।
3. भीमाचार्य, न्यायकोश, पृ. 697
4. पदार्थ का लक्षण करने में लक्षण का प्रयोजन केवल शब्द–व्यवहार है, जबकि पदार्थ के अतिरिक्त अन्य सभी के लक्षण में व्यावृति और शब्द–व्यवहार नामक दोनों प्रयोजन उद्दिष्ट होते हैं। पदार्थ लक्षण के साथ व्यावृति रूप प्रयोजन के उद्दिस्ट नहीं होने का कारण यह है कि पदार्थ केवलान्वयी धर्म है।
5. कुछ लोगों का यह मानना है कि नव्य न्याय की ओर बढ़ते हुए न्याय दर्शन अपने प्रमेय तंत्रात्मक अभिनिवेश के प्रति कट्टर नहीं रहा है–विश्वनाथ पंचानन कहते हैं, "एते च पदार्थाः वैशेषिक नये प्रसिद्धाः नैयायिकानामप्यसिद्धा" और न्यायलीलावतीकार ने भी ऐसे ही नैयायिकों को 'अनियतपदार्थवादिनः' कहा है। पुनः न्याय शास्त्र को प्रदीपः सर्वविद्यानाम्, कहना भी उसे एक विचारपद्धति के रूप में ही प्रस्तुत करता है। परंतु ऐसे सभी वक्तव्यों को न्याय दर्शन की मुख्य धारा से एकदेशीय रूप में ही जोड़ा जा सकता है।
6. विज्ञानभिक्षुः सांख्यकारिका, 4
7. वात्स्यायनः न्यायभाष्यः अनुबंध्चतुष्ट्य प्रकरणः आरंभिक पंक्ति।
8. गङ्गेश उपाध्यायः तत्वचिंतामणिः प्रत्यक्षखंड।
9. वल्लभाचार्यः न्यायलीलावतो, पृ. 122, नैयायिकनामनियतपदार्थवादित्वेन विरोधाभावात्।
10. चित्सुखाचार्यः तत्वप्रदीपिका–मानाधिनामेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्।
11. गौतमः न्यायसूत्र 2/1/19 न प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः।
12. द्रष्टव्य : प्रो. ए.के. चटर्जी, इंसाइट्स एंड पाराडॉक्स इन बुद्धिस्ट फिलॉसफी : आन्वीक्षिकीः दर्शन उच्चानुशीलन केंद्र काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ. 181, अंक 6/1973
13. आस्तिक एवं नास्तिक तर्कविद्या की प्राचीन परंपरा एवं विकास के लिए द्रष्टव्य : फणिभूषण तर्कवागीश न्यायदर्शनम् (बंगला), प्रथमखंड की भूमिका।
14. धर्मोत्तरः न्यायबिंदु टीकाः 2/48 यह लक्षण बहुत प्रचलित नहीं है तथापि बौद्ध न्याय की दृष्टि से प्रमाण का यही सम्यक् सामान्य लक्षण होना चाहिए।
15. दिङ्नागः आलंबन परीक्षा से प्रायशः उद्धतः यदंतर्ज्ञेयरूपं बहिर्वदवमासते।
16. टिप्पणी–यह बात वैदल्यसूत्र से सुतरां स्पष्ट होती है, क्योंकि संपूर्ण वैदल्यसूत्र गौतम–प्रणीत लक्षण–निर्देशक न्यायसूत्रों के खंडनार्थ ही प्रणीत हुआ है। द्रष्टव्य, हमारा निबंध–वैदल्यसूत्र एवं न्यायसूत्र के अंतःसंबंध पर कुछ विचार।' समाज धर्म एवं दर्शन, वर्ष 18–2, भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान, इलाहाबाद।
17. नागार्जुन विग्रहव्यावर्त्तनी–43 सिध्यंति हि प्रमेयाप्यपेक्ष्य यदि सर्वधा प्रामाणानि भवति प्रमेयसिद्धिर्नाविक्ष्यैव प्रमाणानि।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

18. दिङ्नाग प्रमाणसमुच्चय–1/2 (आयंगर द्वारा संपादित एवं पुनःरचित) प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्। प्रमेयस्तत्प्रयोगार्थ न प्रमाणांतरं भवेत्।
19. प्रमाणवार्त्तिक 2/53–54 'मेयं त्वेकं स्वलक्षणं ...स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वय मतम्।'
20. न्यायवार्त्तिक 1/12, 'द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य–ग्राह्यश्चय यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति।
21. आन्वीक्षिकी अंक 6, जुलाई–अक्टूबर, 1973, दर्शन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ. 189
22. प्रमाणवार्त्तिक (मनो.), 2.2 'सर्वस्य संग्रहात् द्वैविध्यमेव'।
23. न्यायमंजरी, आ. 1, प्रमा. परि., 'प्रमाणद्वयसिद्धे च विषयद्वगवेदने। वद कस्यानुरोधेन तृतीयं मानमिष्यातम्?
24. अकलङ्क, प्रमाणन्तर्भाव–दि एशियाटिक सोसायटी, 'प्रत्यक्षं अनुमानं च प्रमाणमिदमेव हि। प्रमाणसंप्लवायोगात् प्रमेयद्वय संगतेः।।
25. प्रमाणवार्त्तिक, 2.63, 64 न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः। तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते।। त्र्येकसंख्यानिरासो वा प्रमयेद्वयदर्शनात्। एकमेवाप्रमेयत्वाद् सतश्चेन्मतं च नः।।
26. प्रमाण वार्तिकालङ्कारभाष्य, 2/63–64 'स्वाकारद्वयसंवेदने हि नैकमिति युक्तम् नापित्रयादिकम्।'
27. वही, प्रमाणास्वरूपंतु स्वयंवेदनाकारसिद्धेः।
28. 'प्रमाणांतर्भाव प्रकरण–विमर्श', डॉ. अंबिकादत्त शर्मा, दार्शनिक त्रैमासिक, अंक 1–4, 1991–92, संयुक्तांत।
29. न्याय भाष्य 1/2/3 सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशत् प्रतिपद्यमानो लिंग नापि बुभुत्सते, लिंगदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतोदिदृक्षते, प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते। पूर्वोक्तमुदाहरणं 'अग्नि'।
30. श्लोकवार्त्तिक, प्रत्यक्षगतधर्मा निमित्तत्वसूत्रम्, 170, 'तस्मात् पंचभिरप्यक्षैर्बोधः सत्तागुणत्वयोः। द्रव्यभूतो पुनः द्वाभ्यां रूपादावेकशः स्थितः।।
31. न्यायवार्त्तिक 1/1/1 'अधिगतत्वाद् वैयर्थमिति, न अन्यथा तदधिगतेः'।
32. न्यायभाष्य 1/13 'सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा'।
33. शाबरभाष्य 1/1/2 निराकारा च नो बुद्धिः आकारवान् बाह्योऽर्थः'।
34. इसे साधारण दृष्टिकोण इसलिए कहा गया है कि यह निर्धारण काल को प्रमाण और प्रमेय की उपाधि बनाकर किया जाता है। प्रमाण–प्रमेय की कालोपाधिक पूर्ववर्तिता अथवा अनुवर्तिता प्रनाण–प्रमेय के गौण–प्रधान भाव की निर्धारक नहीं हो सकती।
35. धर्मकीर्तिः न्यायबिंदु 2/48 प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावसिद्धिरति।
35. नागार्जुन–माध्यमिककारिका–24/4, द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः।
37. प्रो. ए.के. चटर्जी, थेगाचार आइडियलिज्म, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, 1962, पृ. 223–24
38. भारतीय परंपरा में युक्ति परस्पर प्रमाणशास्त्र के विकास को पांच चरणों में विभाजित किया जा सकता है। इसका प्रारंभिक रूप उपनिषदों के ब्रह्मोदय महाभारत के जनक अष्टावक्र और जनक–सुलभा संवाद एवं मिलिंद–पन्नहो की संवाद विधियों में प्राप्त होता है। इसका व्यवस्थाभिमुख रूप वादविधि के रूप में कौटिल्य के अर्थशास्त्र और चरक इत्यादि में प्राप्त तंत्रयुक्तियां एवं सिद्धवाक्यों की उदि्दष्ट विधि में प्राप्त होता है। इसका व्यवस्थित रूप न्यायसूत्र एवं न्यायभाष्य इत्यादि में अन्वीक्षिकी विधा अथवा तत्वनिर्णय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation; Chennai

हेत्वर्थक न्यायशास्त्रा के रूप में प्राप्त होता है। इसके विकासाभिमुख रूप को बौद्ध एवं जैन परंपरा के एतद्विषयक प्रारंभिक ग्रंथों में देखा जा सकता है। इसका विकसित रूप हमें दिङ्नाग, धमर्कीति एवं न्याय–परंपरा के उत्तरकालिक एवं नव्यन्याय के ग्रंथों में देखने को मिलता है। युक्तिपरस्पर प्रमाणशास्त्र के विकास में व्यवस्थाविमुख सोपान तक यह नही कहा जा सकता कि उसके सामने किसी तत्वमीमांसा के संरक्षण का उद्दिष्ट लक्ष्य सामने 'रहा हो, लेकिन व्यवस्थित, विकासाविमुख और फिर विकसित अव्यवस्थापर्यंत भारतीय प्रमाणशास्त्रा का विकास किसी–न–किसी तत्वमीमांसा के उद्दिष्ट संरक्षण में ही हुआ है।

39. प्रो. टी.आर. वी. मूर्ति ने ब्राह्मण एवं बौद्ध परंपरा की तत्वमीमांसीय दृष्टि को आत्मवादी और अनात्मवादी पद से अभिहित किया है। आत्मवादी दृष्टि सत्ता को कूटस्थ प्रतिमान में निरूपित करती है तो अनात्मवादी दृष्टि में सत्ता का क्षणिक प्रतिमान को स्वीकार किया गया है। दृष्टव्य–दि सेंट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म, पृ. 10

पुनः प्रो. विश्वंभर पाही ने वैदिक परंपरा और बौद्ध परंपरा की तत्वमीमांसीय दृष्टि को नित्यवादी एवं संतानवादी रूप से निरूपित किया है। वैदिक परंपरा पुनः याज्ञवल्कीय धारा और काणादीय धारा में विभाजित हो जाती है। इसमें याज्ञवल्कीय धारा सत्ता के प्रतिमान को विषय एवं विषयी के आत्यांतिक भेद में विस्थापित करती है तो काणादीय धारा में सत्ता के प्रतिमान को धर्म–धर्मी–भेद पर आधृत किया गया है। द्रष्टव्य–वैशेषिक पदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, पृ. 1

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सहायक ग्रन्थ

तर्कभाषा–मोक्षाकार गुप्त, हिन्दी अनु. रघुनाथ गिरि, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी–1969
न्यायकुसुमान्जलि–उदयनाचार्य, मिथिला रिसर्च इन्स्टीट्यूट, दरभंगा–1972
न्यायबिन्दु टीका–धर्मोत्तर, हिन्दी अनु. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ–1975
न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका–वाचस्पति मिश्र, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली
न्यायभाष्य–स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी–1966
न्यायसूत्र–महर्षि गौतम, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी–1942
प्रमाणमीमांसा–हेमचन्द्र, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी–1970
प्रमाणान्तर्भाव–अकलंक के किसी अज्ञात शिष्य द्वारा रचित, संपा. एस.सी. न्यायाचार्य, दि एशियाटिक सोशायटी, कलकत्ता–1969
प्रमाणवार्तिक (प्रमाणसमुच्चय टीका)–धर्मकीर्ति, बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोशायटी, पटना
प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण–रत्नकीर्ति, सम्पादक–अनन्त लाल ठाकुर
प्रमाणमाला–अनन्दबोध, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी–1907
प्रमाण–मीमांसा–डॉ. बद्रीनाथ सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी–1999
प्रमाण–परीक्षा–जैन सिद्यान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता
बौद्ध प्रमाण दर्शन–डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर–2007
भारतीय न्यायशास्त्र–डॉ. चक्रधर बिजल्वान, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ–1998
भारतीय दार्शनिक समस्यायें–डॉ. नन्दकिशोर शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर–1997
भारतीय ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा–डॉ. हृदयनारायण मिश्र, शेखर प्रकाशन इलाहाबाद–2004
विग्रहव्यावर्त्तनी–नागार्जुन, अंग्रेजी अनु. कमलेशवर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–1998
समेकित दार्शनिक विमर्श–संपादक, डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा–विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर–2005
समेकित अद्वैत विमर्श–संपादक, डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा–विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर–2005
सत्ता विषयक अन्वीक्षा–यशदेव शल्य, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली–1987
ज्ञानमीमांसा–दयाकृष्ण, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर–1973
Six Buddhist Nyaya Tractus-Harprasad Shastri, Bibliothica indica, Calcutta-1910
The Concept of Knowledge-Devvrat Sen, K.P. Bagchi & Company, Calcutta-1984
The Six Ways of knowing-Dr. D.M. Dutta, University of Calcutta
The Nyaya theory of Knowledge-S.C. Chaterji, Calcutta University-1950

●●●

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

डॉ. पी.सी.चौरसिया

मां: श्रीमती बेनी बाई चौरसिया
पिता: श्री चिरोंजी लाल चौरसिया
जन्म-स्थान: ग्राम व पोस्ट पिपट, जिला छतरपुर (म.प्र.)
प्रारंभिक शिक्षा: ग्राम पिपट (जिला छतरपुर) से
उच्च शिक्षा: शास. महाराजा महाविद्यालय छतरपुर (म.प्र.)
पी.एच.डी.उपाधि: डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.) से
नेट (NET) क्वालीफाइड- UGC NEW DELHI से
विगत 14 वर्षो से शास. महाराजा महाविद्यालय छतरपुर के दर्शन विभाग में अध्यापन कार्य में संलग्न।

प्रकाशित पुस्तकें:

1. ज्ञान मीमांसा एवं तत्व मीमांसा (भारतीय एवं पाश्चात्य)
2. तर्कशास्त्र (पाश्चात्य एवं भारतीय)

9 789380 462110